योगविद्या

वर्ष 5 अंक 10
अक्टूबर 2016
सदस्यता डाकखर्च – रु 100

बिहार योग विद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत

हरिः ॐ

योग विद्या का सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जाता है। इसमें बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट तथा योग शोध संस्थान के क्रियाकलापों की जानकारियाँ प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी शक्तिमित्रानन्द सरस्वती

योग विद्या मासिक पत्रिका है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं।

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, फरीदाबाद, 121007, हरियाणा में मुद्रित।

© Bihar School of Yoga 2016

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। कृपया अपने आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

बिहार योग विद्यालय
गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201
बिहार

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कुल पृष्ठ संख्या : 58 *(कवर पृष्ठों सहित)*

कवर तथा अन्दर के रंगीन फोटो : बाल योग मित्र मण्डल के बच्चों सहित स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती, गुरु पूर्णिमा 2016, मुंगेर

आध्यात्मिक मार्गदर्शन

ईश्वर की उपस्थिति

ईश्वर की उपस्थिति को सदा-सर्वत्र अनुभव करने का अभ्यास ईश्वर-साक्षात्कार का सबसे सुगम, द्रुत एवं सटीक उपाय है। फलों-फूलों, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, स्त्री-पुरुषों, चाँद-तारों, पंच-तत्त्वों– सभी चीजों में भगवान विद्यमान हैं। ऐसा अनुभव कीजिए कि आपके द्वारा की जाने वाली प्रत्येक क्रिया प्रभु की कृपा का ही परिणाम है। प्रत्येक वस्तु के साथ अपनी एकात्मकता का अनुभव कीजिए।

जब आप प्रभु की उपस्थिति का अनुभव हर समय, हर वस्तु में और हर जगह करते हैं तब अच्छे-बुरे, स्त्री-पुरुष आदि भेद पूरी तरह निरर्थक हो जाते हैं। जब आप बच्चों के बीच होते हैं तब बच्चे बन जाते हैं, जब स्त्रियों के बीच होते हैं तब स्त्री बन जाते हैं। जब आप पत्थर पर बैठते हैं तब स्वयं पत्थर बन जाते हैं। यही ब्रह्माण्डीय चेतना है। इस प्रकार की साधना आपको आत्मभाव का आनन्द प्रदान करेगी।

– श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर-811201, बिहार के लिए स्वामी ज्ञानभिक्षु सरस्वती द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रित
मुद्रक – थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, 18/35 माइलस्टोन, दिल्ली मथुरा रोड, फरीदाबाद-121007, हरियाणा
स्वामित्व – बिहार योग विद्यालय **सम्पादक** – स्वामी शक्तिमित्रानन्द सरस्वती

योगविद्या

वर्ष 5 अंक 10 · अक्टूबर 2016
(प्रकाशन का 54 वाँ वर्ष)

विषय सूची

4 दिव्य प्रेम का मार्ग
9 भक्ति पर एक विहंगम दृष्टि
17 भक्ति मीमांसा
22 प्रार्थना
24 सत्यम् वाणी
41 गीता की योग शिक्षा का सार
50 कल्पतरु की छाँव में
54 नव पल्लव

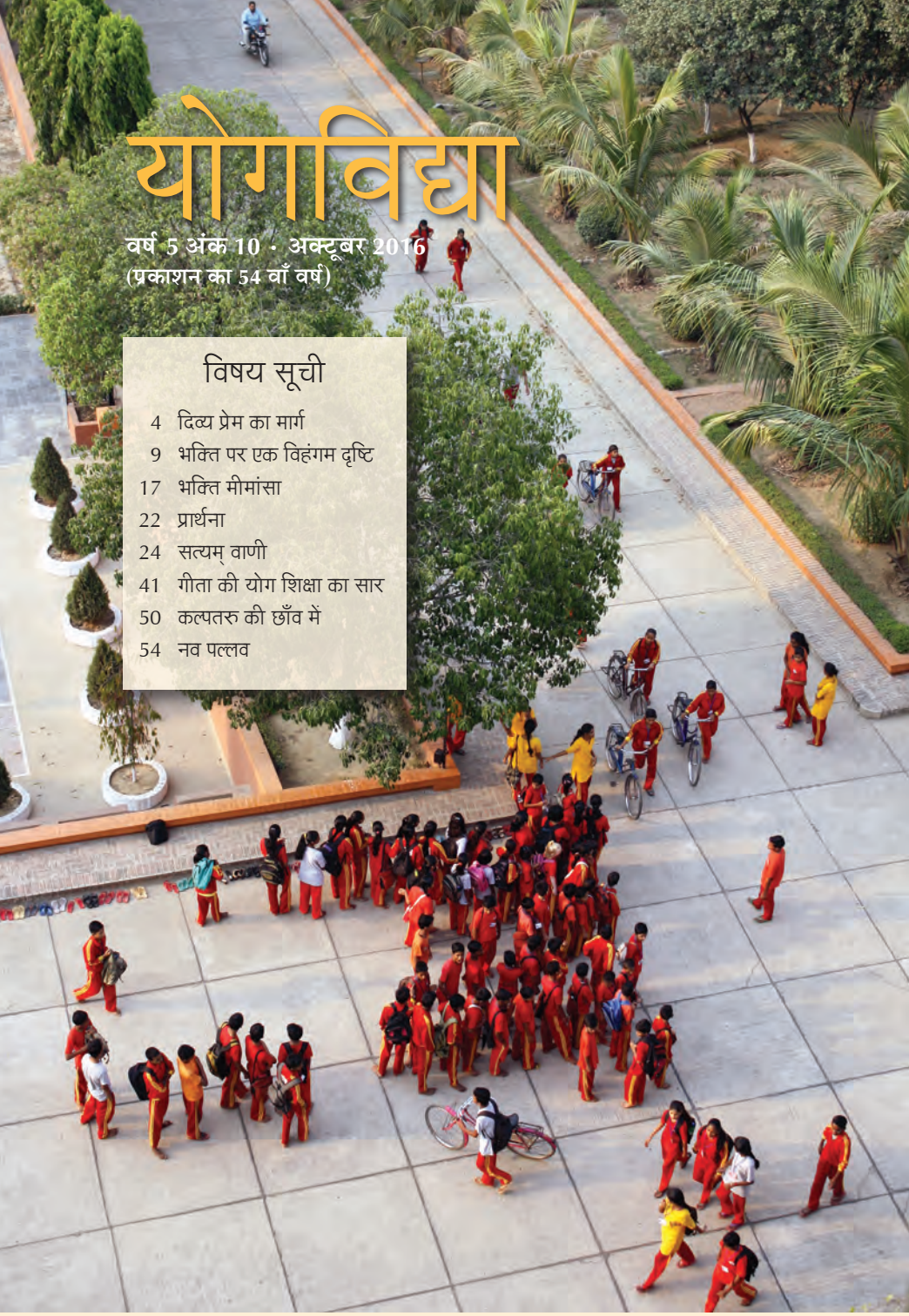

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

दिव्य प्रेम का मार्ग

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

आध्यात्मिक क्षेत्र में कोई राजमार्ग नहीं है। प्रेमियों का मार्ग भी उतना ही कठिन है, जितना कि वेदान्तियों अथवा राजयोगियों का। केवल जिज्ञासुओं को प्रोत्साहित करने के लिए सन्त-महात्मा कहते हैं कि भक्ति या प्रेम का मार्ग सबसे आसान है। प्रत्येक मार्ग या पद्धति में अहंकार के पूर्ण उन्मूलन की अपेक्षा की जाती है। एक कर्म योगी नि:स्वार्थ सेवा द्वारा अपने अहंकार का नाश करता है, तो एक भक्त आत्म-समर्पण द्वारा। उसी प्रकार एक वेदान्ती आत्म-त्याग द्वारा उसे नष्ट करता है।

इस संसार में किसी दूसरे व्यक्ति को प्रसन्न करना तथा उसका प्रेम और स्नेह प्राप्त करना कितना कठिन है! पति अपनी पत्नी को सर्वोत्तम वस्तुएँ देता है, उसके लिए मँहगे वस्त्र और आभूषण खरीदता है, अनेक प्रकार से दिन-रात उसकी सेवा करता है, फिर भी वह उसे पूर्णत: सन्तुष्ट नहीं कर पाता। एक कर्मचारी कार्यालय में सुबह से शाम तक कार्य करते हुए भी अपने अधिकारी को प्रसन्न करके उसका प्रेम प्राप्त नहीं कर पाता। एक छोटी-सी गलती के लिए भी उसे बरखास्त कर दिया जाता है। एक दीवान अपने महाराजा को प्रसन्न करने तथा उनका प्रेम प्राप्त करने का भरपूर प्रयास करता है। इसके बावजूद वह उन्हें पूर्णत: प्रसन्न करने में विफल हो जाता है। यदि सांसारिक प्रेम के क्षेत्र में यह स्थिति है तो भगवत्-प्रेम के मार्ग की कठिनाइयों का अनुमान आप सहज ही लगा सकते हैं। ईश्वर का प्रेम प्राप्त करने तथा सर्वोत्कृष्ट प्रेम के नगर में प्रवेश पाने हेतु एक भक्त को अग्नि-परीक्षाओं से गुजरना एवं अनेक प्रकार के दु:खों को धैर्यपूर्वक सहना ही होगा।

यदि आप वायसराय या राजा से मिलना चाहते हैं तो यह आसान काम नहीं है। उनके व्यक्तिगत सचिव लिखते हैं, 'महामहिम इन दिनों अति व्यस्त हैं। दो सप्ताह प्रतीक्षा कीजिए।' यदि आपको जिलाधिकारी से मिलना है तो उनका सचिव कहता है, 'साहब बहुत व्यस्त हैं, परसों आइए।' यदि सांसारिक मामलों में यह स्थिति है, तो भगवान कृष्ण का साक्षात्कार प्राप्त करना कितना कठिन होगा, जो कि तीनों लोकों के स्वामी हैं!

प्रेम का मार्ग उबड़-खाबड़, बाधाओं और संकटों से पूर्ण है। यह तलवार की धार के समान है। यह अति सँकरा है। इसमें केवल 'एक' प्रवेश पा सकता है। जब भगवान हैं तो 'मैं' नहीं है, और जब 'मैं' है तो भगवान नहीं हैं। प्रेम मार्गी की स्थिति पतली तार पर चलते हुए कलाबाज जैसी है। यदि वह लापरवाही बरतेगा तो किसी भी क्षण नीचे अगाध गर्त में जा गिरेगा। साथ ही उसकी गर्दन पर माया की तलवार भी लटक रही होती है। नीचे अगाध गर्त में असंख्य मगरमच्छ हैं। सामने

विशाल अग्निज्वाला है। पीछे साँप-बिच्छुओं की सेना है। अब आप समझ सकते हैं कि साधक को कितना साहसी होना है।

भक्त के हृदय प्रकोष्ठ में निरन्तर प्रेम का अमृत टपक रहा है। इस अमृत का पान करते हुए भक्त प्रत्येक कदम पर प्रभु के प्रेमपूर्ण आलिंगन का अनुभव करता है। यही कारण है कि वह निर्भयतापूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ता जाता है। दिव्य कृपा के बिना वह इस संघर्ष में विजयी नहीं हो सकता। प्रभु की सहायता एवं कृपा के बिना वह इस खतरनाक मार्ग पर एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकता।

प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए असीम धैर्य एवं सहनशक्ति की आवश्यकता है। जिस प्रकार बाधा-दौड़ का धावक अनेक बाधाओं को सफलतापूर्वक पार करने के बाद प्रथम पुरस्कार प्राप्त करता है, वैसे ही एक भक्त या प्रेमी ईश्वर की कृपा से अपने संघर्ष में विजयी होता है। उसे अनेक खतरनाक उफनती नदियों को पार करना, दुर्गम पर्वतों के शिखरों पर चढ़ना एवं जीवन के तूफानी समुद्र के अनेक भँवरों से सफलतापूर्वक गुजरना होता है। उसे धैर्यपूर्वक घोर उत्पीड़न सहना पड़ता है। असंख्य कठिनाइयों के बावजूद उसके जीवन में शोक, विलाप या निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि साधक निष्कपट, अटल, लौह-दृढ़ता तथा ज्वलंत संकल्प से युक्त एवं अपनी प्रार्थना और पूजा में नियमित है, तो उसकी सारी कठिनाइयाँ उसी प्रकार दूर हो जाएँगी जैसे सूर्य के सामने कुहासा लुप्त हो जाता है।

आप एक ऐसे आदमी के साहस की कल्पना कीजिए जिस पर चारों तरफ से अनेक लोग पत्थर फेंक रहे हैं और वह अपनी घेराबन्दी कर रहा है। वह कुशलतापूर्वक, चमत्कारिक ढंग से प्रत्येक पत्थर से अपनी रक्षा कर लेता है।

इसी प्रकार प्रेम-मार्ग के पथिक को अति साहसी होना होगा। भक्त के अहंकार के उन्मूलन और पूर्ण आत्म-समर्पण के बाद ही ईश्वर प्रकट होते हैं। अनेक प्रकार से उसकी परीक्षा होगी। जब द्रौपदी ने पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर स्वयं को पूरी तरह भगवान के चरणों में डाल दिया, तब द्वारकानाथ तत्क्षण प्रकट हो गए और उसके वस्त्र अनन्त हो गए।

अपने प्रेमी श्रीकृष्ण के परम प्रेम और ऐश्वर्य युक्त लोक को प्राप्त करने के पूर्व मीरा को अनेक अग्नि-परीक्षाओं से गुजरना पड़ा। उसे समस्त प्रकार की यातनाएँ दी गईं। वह राजपूताना के तपते बालू पर नंगे पैर चली, भिक्षा पर निर्भर रही, भूमि पर सोयी एवं लगातार कई दिनों तक भूखी भी रही। इन कठिन परीक्षाओं के बावजूद प्रभु की कृपा से वह सदैव आनन्दित रही।

प्रभु की कृपा से प्रह्लाद के लिए अग्नि बर्फ में रूपान्तरित हो गयी और खौलता हुआ तेल चन्दन के समान शीतल हो गया। गिरिधर गोपाल की कृपा से मीरा को मारने के लिए भेजा गया सर्प फूलों की माला में, विष अमृत में और नुकीले काँटों से बनी बिछावन गुलाब की सेज में बदल गयी। माधव की कृपा से मूक व्यक्ति सर्वोत्तम वक्ता हो जाता है और लंगड़ा भी हिमालय की सर्वोच्च चोटी पर चढ़ जाता है– *मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्, यत्कृपा तमहं वन्दे माधवं परमानन्दम्।*

ईश्वर का प्रेम प्राप्त करने हेतु साधक को असीम श्रद्धा-विश्वास एवं तप-त्याग से युक्त होना होगा। तभी वह प्रभु के साम्राज्य में प्रवेश पा सकता है तथा प्रभु में स्थित हो सकता है। ऐसे भक्त की जीवन नौका की पतवार प्रभु स्वयं थामते एवं उसे संसार सागर के पार ले जाते हैं।

यह दिव्य प्रेम है क्या? यह स्वार्थी, सांसारिक व्यक्तियों का अपेक्षायुक्त प्रेम नहीं है। यह एक युवती के सुन्दर मुख, नेत्र या वस्त्राभूषण के प्रति आकर्षण वाला प्रेम नहीं है। यह भावना का कोई अस्पष्ट एवं क्षणिक उद्रेक भी नहीं है। प्रेम की भाषा आँसुओं की भाषा है। शब्दों के माध्यम से उसका वर्णन नहीं हो सकता। भगवान का भक्त इस प्रेम का अनुभव अपने अन्दर करता है। प्रेम-प्यासे भक्त के हृदय में दिव्य प्रेम की ज्योति निरन्तर जलती रहती है। उसे भूख-प्यास की कोई चिन्ता नहीं होती। वह प्रभु विरह की व्यथा से क्षीणकाय हो जाता है। उसे रात्रि में नींद नहीं आती। वह नहीं जानता कि भगवान उसे कब दर्शन देंगे। इसलिए वह रात्रि जागरण करता एवं सतत् सावधान रहता है। जब भक्त के अहंकार का पूर्ण उन्मूलन और प्रभु चरणों में उसका अशेष समर्पण हो जाता है, जब वह पूरी तरह वासनामुक्त हो जाता है, जब वह जल से बाहर निकाली गयी मछली की तरह प्रभु विरह से अत्यधिक व्यथित होकर विरहाग्नि में जलने लगता है, तब प्रभु उसके समक्ष प्रकट होते हैं। तब वे उसके आँसू पोंछते, उसे अपने हाथों से खिलाते एवं उसके समस्त उत्तरदायित्त्वों का वहन करते हैं।

पूर्ण आत्म-समर्पण कोई घाटे का सौदा नहीं है। इसमें महान् लाभ है। आप अपना तन-मन-धन और आत्मा अर्पित करते हैं तथा बदले में स्वयं प्रभु को प्राप्त करते हैं। आप समस्त ईश्वरीय सम्पदा के स्वामी हो जाते हैं, ईश्वर स्वयं आपके अपने हो जाते हैं, मानो आपने अपने प्रेम से उन्हें खरीद लिया है और वे आपके दास हो गये हैं। ईश्वर के साथ आपका सायुज्य हो जाता है, जैसे कि चीनी जल में घुलकर उसके साथ एकाकार हो जाती है। ईश्वर को सिर्फ पूर्ण प्रेम से आप्लावित आपका सम्पूर्ण हृदय चाहिए। भक्त कहता है, 'मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे हो।' स्वार्थ का लेशमात्र भी शेष रहेगा तो आप उन्हें प्राप्त नहीं कर सकते।

परम प्रेम से युक्त भक्त कर्मकाण्ड या मतान्धता का दास नहीं होता। वह सामाजिक नियमों से बँधा हुआ नहीं होता, कोई आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन नहीं करता, और न शंख-घंटी आदि ही बजाता है। वह सांसारिक लोगों की व्यंग्यपूर्ण टिप्पणियों की परवाह नहीं करता। उसकी आस्था का वर्णन नहीं हो सकता। वह अपने प्रेमी पर प्रेम की वृष्टि करता है। यह प्रेम स्वत:स्फूर्त होता है। प्रेम की धारा सतत् तीव्र गति से प्रवाहित होती रहती है। उसमें कोई अन्तराल नहीं आता। कभी-कभी वह घोर विरह-वेदना का अनुभव करता है, मानो भट्ठी पर रखे गर्म तवे पर उसे भूना जा रहा हो। ऐसा होते ही तत्काल दिव्य अमृत टपकता है। तब उसे ऐसा अनुभव होता है मानो वह गंगा के शीतल जल में डुबकियाँ लगा रहा हो।

भक्त अपने प्रेमी के वियोग को क्षण भर के लिए भी सहननहीं कर सकता। क्षणिक वियोग भी मृत्यु-वेदना के सदृश होता है। एक क्षण उसे एक वर्ष के समान प्रतीत होता है। विरह की अवस्था में वह उसके सान्निध्य हेतु लालायित हो उठता है। उसके हृदय में जलन होने लगती है, चेहरा काला पड़ जाता है और आँखें शून्य हो जाती हैं। उसकी भूख, प्यास और निद्रा उड़ जाती है। वह बेचैन हो जाता है एवं उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है। ये अश्रु उसे सांत्वना देते हैं। इससे कुछ हद तक उसकी प्यास बुझती है। अपने अश्रुओं द्वारा वह कोमल एवं अतिसंवेदनशील प्रेम-लता को सींचता है। अपने प्रेमी के अलावा उसके मन में अन्य कोई विचार नहीं आते। उसके हृदय में स्थित प्रेम का स्रोत सदैव आप्लावित रहता है। यह कभी नहीं सूखता। इस स्रोत से प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है। यह परम प्रेम की सतत् धारा है जिसके प्रवाह को कुछ भी बाधित नहीं कर सकता।

प्रेम का मार्ग नि:सन्देह कठिनाइयों से भरा हुआ है, किन्तु दृढ़ संकल्प, तीव्र वैराग्य, घोर साधना, सतत् स्मरण और पूर्ण समर्पण के भाव से युक्त भक्त समस्त कठिनाइयों पर आसानी से विजय प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक कदम और प्रत्येक पड़ाव पर उसे दिव्य कृपा प्राप्त होती है। वह निरन्तर ईश्वर में निवास करता है।

भक्त कहता है, 'मैं तुम्हारा हूँ' जबकि वेदान्ती कहता है, 'मैं वही हूँ।' 'मैं तुम्हारा हूँ' कहने वाला भक्त अन्तत: 'मैं वही हूँ' की अवस्था का साक्षात्कार कर लेता है।

परम प्रेम या पराभक्ति से युक्त भक्त 'दासोऽहम्' से 'सोऽहम्' या 'शिवोऽहम्' की परमावस्था को प्राप्त कर लेता है। प्रेम की परिणति अन्ततः ज्ञान में ही होती है। प्रेम का प्रारम्भ द्वैत से और अन्त अद्वैत में होता है।

हे परमप्रिय राम! क्या आप ऐसा हृदय विकसित नहीं करेंगे जो भगवान का नाम लेते ही आनन्द के आँसुओं के रूप में फूट पड़े? अपने हृदय में निरन्तर प्रेम की लहरों को उठने दीजिए। प्रभु के दिव्य आलिंगन का अनुभव कीजिए। शाश्वत प्रेम के परमानन्द का आस्वादन कीजिए। दिव्य प्रेमामृत का भरपूर पान कीजिए तथा सतत् आनन्द का अनुभव कीजिए।

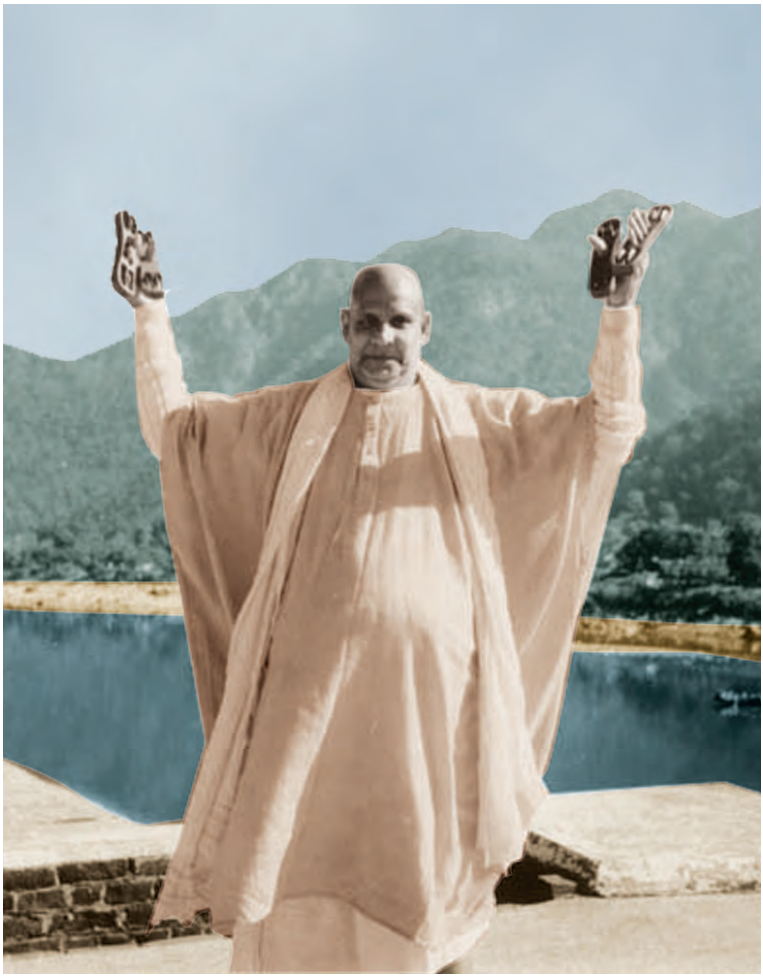

भक्ति पर एक विहंगम दृष्टि

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

प्रारम्भ में ही मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि शब्द केवल शब्द होते हैं। भले ही उनका उपयोग कितनी ही बुद्धिमत्ता के साथ किया जाए, लेकिन वे भक्ति के वास्तविक आशय को स्पष्ट नहीं कर सकते। अगर तुम शब्दों और मान्यताओं के आधार पर भक्ति को समझने का प्रयत्न करोगे तो इसके सारतत्व को नहीं समॅझ पाओगे और केवल शब्दों के भ्रमजाल में उलझ कर रह जाओगे। यह चर्चा केवल भक्ति मार्ग की दिशा को इंगित करती है। इस मार्ग पर चलकर लक्ष्य तक पहुँचने का कार्य तो तुम्हें स्वयं करना है। इस दृष्टिकोण से एक सूत्र हमेशा ख्याल रखना, भक्ति हृदय से होती है, वाणी या बुद्धि से नहीं। भक्ति का सरोकार बाह्य अभिव्यक्तियों से बिल्कुल नहीं है। यह तो आंतरिक भावनाओं पर निर्भर करती है। निरन्तर भजन-कीर्तन में लीन रहने वाले के सदृश ही शान्तिपूर्वक अहर्निश कर्मरत रहने वाला व्यक्ति भी भक्तिभाव से सराबोर हो सकता है। केवल सच्चा भक्त ही उसकी भक्ति को समझ पायेगा।

मिथ्याचार और आत्म-प्रवंचना

भक्ति की बनावटी भावनाओं और आडम्बर युक्त अभिव्यक्तियों के भ्रमजाल में न फँसो और न ही भक्ति का स्वांग रचकर अन्य लोगों को प्रभावित करने की चेष्टा करो। केवल हृदय के भावों को अभिव्यक्त करो, उनके साथ बह जाओ, परन्तु हमेशा अपने प्रति, अपने व्यक्तित्व के प्रति ईमानदार रहो। अगर तुम महसूस करते हो कि तुम्हारे भीतर भक्ति-भाव है ही नहीं, तो भी चिंतित या निराश नहीं होना। अगर तुम अन्य योग-साधनाओं का पूर्ण मनोयोग से अभ्यास कर रहे हो तो समय आने पर भक्ति का स्रोत स्वयं ही प्रस्फुटित होगा।

स्वयं के प्रति ईमानदारी एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। जब तक हृदय की गहराई में भक्ति-भाव न उमड़े तो क्यों किसी के प्रति भक्ति का स्वांग रचना? यदि तुम आंतरिक भाव के बिना ही भक्ति का ऊपरी दिखावा करते हो तो यह पाखंड है, आत्म-प्रवंचना है। भक्ति मार्ग में ये ही दो प्रमुख बाधायें हैं। ये ही सजगता विस्तार के मार्ग में प्रमुख अवरोध हैं। अनेक लोग बिना किसी आंतरिक भाव के अपने गुरु, देवता या किसी संत-महात्मा के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हैं। यह एक यांत्रिक प्रक्रिया मात्र है। इसलिए इस तरह के भुलावे में बहककर गलत मार्ग पर आगे न बढ़ो। यदि पहले से ही ऐसा कर रहे हो तो उसे तुरन्त बंद कर दो।

संयोगवश श्रद्धा और आत्म-प्रवंचना के बीच काफी भ्रम पैदा हो जाता है। लोग प्राय: आत्म-प्रवंचना को श्रद्धा मान लेते हैं। वास्तव में ये दोनों पूर्णत: भिन्न

हैं। श्रद्धा का सम्बन्ध उन तथ्यों से है जिनका व्यक्तिगत अनुभव या ज्ञान अभी नहीं हुआ। अनुभव के बिना किसी चीज पर विश्वास करना श्रद्धा है। यह आत्म-प्रवंचना नहीं है। यह तो योग-साधनाओं के उद्देश्य को स्वीकार करना मात्र है। श्रद्धा इस विश्वास पर आधारित है कि प्राचीन ऋषि-मुनि और संत-महात्मा दिग्भ्रमित नहीं थे। उन्होंने कुछ ऐसे अनुभव प्राप्त किये जो सामान्य अनुभवों से परे हैं। श्रद्धा और आत्म-प्रवंचना का तात्पर्य पूर्णत: भिन्न है। आत्म-प्रवंचना का अर्थ स्वयं को भुलावे में रखकर नये अनुभवों के मार्ग में अवरोध पैदा करना है। इसके विपरीत श्रद्धा नये अनुभवों का मार्ग प्रशस्त करती है। इसलिए जो श्रद्धा से परिपूर्ण हैं वे आत्म-प्रवंचना से बचने की विशेष सावधानी रखें।

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए कुछ दृष्टान्त बतलाता हूँ। एक बार एक धनी जमींदार किसी नदी के किनारे पूजा-पाठ करने बैठा। संयोगवश ठीक उसी समय संत वामाक्षेपा भी वहाँ नदी में स्नान कर रहे थे। उन्होंने जमींदार को पूजा-पाठ करते देखा और उन पर पानी छींटना शुरू कर दिया। कुछ देर तक तो जमींदार सहता रहा, पर जब न रहा गया तो वामाक्षेपा से बोला, 'आप अंधे हैं क्या? दिखलाई नहीं पड़ता, मैं पूजा कर रहा हूँ? क्यों विघ्न पैदा कर रहे हैं?' संत वामाक्षेपा जोर से हँसे और बोले, 'अरे, तू पूजा कर रहा है या कलकत्ता के बाज़ार में जूते खरीद रहा है?' और पहले से ज्यादा जोर के साथ पानी फेंकना शुरू कर दिया। जमींदार भौंचक्का रह गया, क्योंकि सचमुच ही वह पूजा के दौरान कलकत्ता की किसी दुकान से जूता खरीदने की बात सोच रहा था। वह केवल बाह्य रूप से पूजा में लगा था। उसने संत के पास जाकर नम्र भाव से प्रणाम किया और पूजा-पाठ में अच्छी तरह मन लगने हेतु आशीर्वाद माँगा।

दूसरा दृष्टान्त गुरु नानक जी के विषय में है। एक बार एक नवाब और उसके वजीर ने गुरु नानक को मस्जिद में नमाज अदा करने का न्यौता दिया। मस्जिद में अनेक लोग आये थे। नमाज अदा करने के समय सभी लोग घुटनों के बल बैठे, केवल गुरु नानक खड़े रहे। नमाज खत्म हुई तो नवाब और वजीर दोनों ही नाराज थे। वे बोले, 'तुम ढोंगी और झूठे हो। तुमने हमारे साथ नमाज अदा करने का वादा किया पर उसे पूरा नहीं किया।'

'बात तो सच है,' गुरु नानक जी ने कहा, 'मैंने तुम लोगों के साथ नमाज अदा करने का वादा किया था। लेकिन जब तुम लोगों ने ही नमाज अदा नहीं की, तब भला मैं कैसे करता?' वे और क्रोधित हुए और बोले, 'इतना बड़ा झूठ। जरा बतलाओ, अगर हम लोग नमाज नहीं अदा कर रहे थे तो क्या कर रहे थे?'

तब गुरु नानक जी ने उनसे पूछा, 'क्या सिर्फ झुकने और जमीन पर माथा टेकने से नमाज पूरी हो जाती है?' 'नहीं, ये तो केवल बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं,' वजीर ने जवाब दिया, 'वास्तव में आंतरिक प्रार्थना ही महत्त्वपूर्ण है।'

गुरु नानक जी ने कहा, 'ठीक यही बात तो मैं भी कहना चाहता हूँ। जब सब नमाज अदा कर रहे थे तब तुम अपनी उस घोड़ी के बारे में सोच रहे थे जो बच्चा देने वाली है। तुम्हें फिक्र थी कि घोड़ी का बच्चा कहीं कुएँ में न गिर जाए।'

अब तो वजीर बड़ा शर्मिंदा हुआ क्योंकि बात सोलह आने सच थी। तब नवाब ने अपने बारे में पूछा। गुरु नानक जी ने जवाब दिया, 'तुम उन घोड़ों में व्यस्त थे, जो तुम्हारे सिपाही काबुल में खरीदने गए हैं।' नवाब ने बात की सच्चाई को स्वीकार किया और मस्जिद में उपस्थित सभी लोग हतप्रभ रह गए।

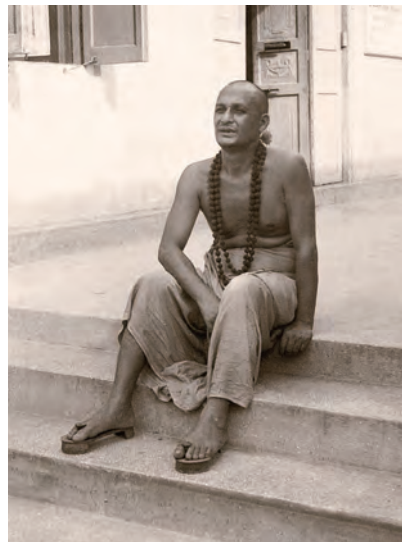

मिथ्याचार और आत्म-प्रवंचना के ऐसे जाल में फँसना बहुत आसान है। वैसे पूजा-पाठ के समय अन्य विचारों का आना-जाना स्वाभाविक है, इसमें कोई बुराई भी नहीं है। समस्या तब है जब हम इसे ही सच्ची आराधना और स्वयं को सच्चा भक्त मान लें। यही आत्म-प्रवंचना का जाल है। पूजा-पाठ में भले ही अनर्गल विचार आएँ, पर कम-से-कम यह समझ रहे कि अभी हम सच्ची भक्ति से दूर हैं। यह ईमानदारी है जो आत्म-प्रवंचना से कहीं बेहतर है। वास्तव में दिन-रात पूजा-पाठ का ढोंग रचने वाले की अपेक्षा अपने तथा अपने लक्ष्य के प्रति ईमानदार व्यक्ति ज्यादा सजग होगा, भले ही वह कोई योग-साधना न करे, किसी धर्म पर विश्वास न करे। कहने का तात्पर्य यह कि सच्चाई और ईमानदारी महत्त्वपूर्ण चीजें हैं।

कही-सुनी बातों को अत्यधिक महत्त्व देना एक और बाधा है। वास्तव में ईश्वर, गॉड या अल्लाह पर चर्चा करना सरल है। राम-रहीम या कृष्ण-क्राइस्ट की आलोचना-प्रत्यालोचना करना और उसे सही मान लेना भी बड़ा आसान है। हम प्राय: इन शब्दों को अधिक महत्त्वपूर्ण मान लेते हैं। कुछ लोग शास्त्रों का अध्ययन कर लेते हैं और स्वयं को बड़ा ज्ञानी समझने लगते हैं। थोड़ा-बहुत पढ़ लिया और सोचते हैं कि सब कुछ जान लिया। भक्ति-मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। यह बात जान लो कि शब्द व्यर्थ हैं और वाणी का विलास भी निरर्थक है। इसलिए किताबी ज्ञान और भावशून्य वाक्यों के भँवर में न फँसो। शब्दों में शक्ति तभी होती है जब उसकी पृष्ठभूमि में अनुभवजन्य ज्ञान हो।

जैसे कमरे की सफाई करते समय सबसे पहले धूल और कचरे को झाड़ू से इकट्ठा कर बाहर फेंकते हैं और तब गीले कपड़े से फर्श का पोंछते हैं, वैसे ही

भक्ति मार्ग में पहले मन के कचरे को निकालकर साफ करना पड़ता है और तब साधक भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम बनता है।

श्रद्धा और भक्ति

श्रद्धा और भक्ति दो भिन्न चीजें हैं। श्रद्धा व्यक्ति के भीतर का वह गुण है जिसके सहारे वह भरोसा करता है कि हर कार्य के पीछे कोई अच्छा प्रयोजन है, भले ही अभी वह हमें स्पष्ट न हो। व्यक्तिगत अनुभव के अभाव में मात्र श्रद्धा के सहारे हम अनुभूतियों की संभावनाओं को स्वीकारते हैं। यदि श्रद्धा न हो तो शायद हम जीवन में कुछ भी नहीं कर पायें। इसके अभाव में आसन, प्राणायाम, ध्यान या योग की अन्य साधनाओं को भी हम नहीं अपनाएँगे। जब हमें साधना के परिणाम पर संदेह होगा, तब उस साधना को करने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, जब कोई साधना अनुभव में परिणत हो जाती है, तब श्रद्धा की आवश्यकता नहीं रहती। तब श्रद्धा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। श्रद्धा का सम्बन्ध गुरु के निर्देशों से भी है। श्रद्धा के अभाव में गुरु के निर्देशों का पालन करना नितान्त असंभव है। दूसरे शब्दों में कहें तो श्रद्धा के अभाव में गुरु-शिष्य सम्बन्ध की भी कोई संभावना नहीं रह जाती ।

श्रद्धा हमारे लिए भक्ति के अनुभवों के अवतरण का मार्ग प्रशस्त करती है। यह अंध-विश्वास नहीं है, बल्कि कुछ ऐसे निश्चित प्रयासों और साधनाओं की आवश्यकता को स्वीकारना है जो हमें अपनी वर्तमान सीमाओं से परे ले जाएँगे, हमारी चेतना का विस्तार करेंगे। श्रद्धा हमें भरोसा दिलाती है कि भक्ति योग या योग की अन्य कोई साधना हमें किसी-न-किसी लक्ष्य तक अवश्य पहुँचायेगी, वह साधना हमें अज्ञान के गर्त में नहीं ढकेलेगी। इस तथ्य में विश्वास होना चाहिये कि भक्तियोग की साधना उच्च चेतना और आनन्द का मार्ग प्रशस्त करती है। तुम्हें साधना की शक्ति और क्षमता पर श्रद्धा रखनी होगी। इस श्रद्धा के अभाव में तुम कुछ नहीं कर पाओगे। किसी संत-महात्मा या अपने गुरु का दर्शन इस श्रद्धा-तत्त्व को और परिपक्व बना देता है। तुम एक ऐसे व्यक्ति को देखते हो जो स्वयं उस मार्ग पर चला है जिसपर तुम अभी चल रहे हो। यह प्रेरणा का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है जो श्रद्धा में वृद्धि करता और उसे परिपक्व बनाता है।

धर्मांधता और कट्टरता

भक्तियोग के साथ एक कठिनाई है। यह हमें आसानी से कट्टरता और धर्मांधता में उलझा सकती है। हम अपने सिद्धान्तों को दूसरों पर दुराग्रहपूर्वक थोपने लगते हैं। तब यह भक्ति नहीं रह जाती। यदि हम इतिहास के पन्ने उलटकर देखें तो पता चलेगा कि भक्ति को गलत ढंग से समझा और समझाया गया है। भक्ति तो प्रेम और समर्पण का मार्ग है, लेकिन प्राय: यह धर्मांधता के मार्ग में जा मिला। यह

भक्ति के ठीक विपरीत है। भक्ति-पथ का अनुगामी अपने को ईश्वर के किसी भी रूप के प्रति समर्पित कर सकता है। यह उसकी रुचि पर निर्भर करता है, लेकिन इसके साथ ही उसे अन्य लोगों की भावनाओं का भी आदर करना होगा। यदि अन्य व्यक्ति किसी दूसरे रूप की उपासना करते हैं तो उसे उनके प्रति सहिष्णु होना होगा। सहिष्णुता भक्तियोग का मूल मंत्र है।

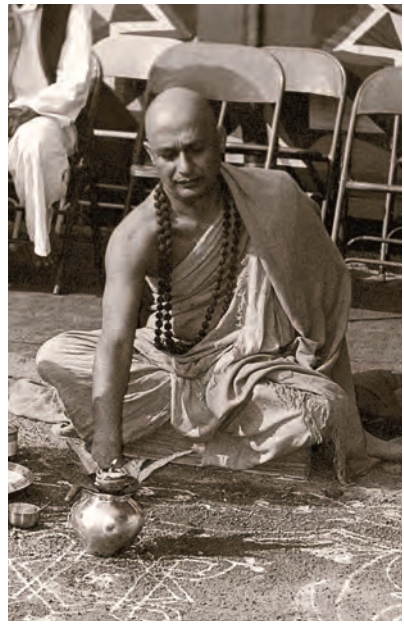

भक्ति-साधना के प्रारंभिक काल में ईश्वर के किसी एक रूप के प्रति अपने पूरे प्रेम को, अपनी पूरी भक्ति को दिशान्तरित करना पड़ता है। भक्ति की इसी अवस्था में असहिष्णुता और विकृति पनपने की संभावना रहती है। भक्ति के परिणामस्वरूप जब व्यक्ति की चेतना का विस्तार होता है तब यह संकीर्ण विचारधारा अपने आप विलीन हो जाती है और भक्ति की सहज अजस्र-धारा हृदय की गहराई से फूट पड़ती है। तब इष्टदेव के स्वरूप के पीछे निहित सार तत्त्व समझ में आता है। तब उस परम-पिता के सारे स्वरूप एक समान लगते हैं। एक-में-अनेक और अनेक-में-एक ऐसा विरोधाभास है जिसे अनुभव द्वारा ही सुलझाया जा सकता है।

प्रारंभिक अवस्था में भक्ति भले ही धार्मिक शिक्षा के रूप में प्रतीत हो, लेकिन यह भक्तियोग का उद्देश्य नहीं है। वास्तव में इसका उद्देश्य धर्म की सीमा और स्तर से ऊपर उठाना है, मुक्ति का सच्चा मार्ग प्रशस्त करना है। इसलिये हमें चाहिए कि भक्तियोग को दूषित, साम्प्रदायिक और संकीर्ण करके इतिहास की गलती को पुन: न दोहराएँ। इसका लक्ष्य धर्मान्धता और धर्मशिक्षा से कहीं उच्च है। लक्ष्य है अनन्त ज्ञान और अखण्ड आनन्द। भक्तियोग इस लक्ष्य का साधन है, और भक्ति उसकी अनुभूति।

अपेक्षारहित होने का महत्त्व

भक्तियोग की साधना से कुछ अपेक्षा न रखो। यह बात अन्य सभी योग-साधनाओं पर भी लागू होती है। अगर तुम आसन, प्राणायाम या ध्यान का अभ्यास करते हो तो निरपेक्ष भाव बनाये रखने का प्रयास करो। वास्तव में यह विचित्र बात है कि

हम जितनी ही अधिक अपेक्षा रखते हैं, उतनी ही उपलब्धियाँ कम होती हैं। इसका कारण यह है कि अपेक्षा और महत्त्वाकांक्षा से अहंकार की वृद्धि होती है। अहंकार जितना अधिक होगा, उतनी ही योगसाधना में प्रगति मंद होगी। यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसलिये बिना किसी अपेक्षा के भक्ति की साधना करो। श्रीमद्भागवत की उद्धव गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मेरा भक्त कुछ भी कामना नहीं करता, मेरे द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठतम पद भी नहीं, क्योंकि कामनारहित होना मुक्ति का राजमार्ग है।' इसी में आकांक्षा को प्रकृति के तीन मूलभूत गुणों अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् से सम्बन्धित बताया गया है–'बिना किसी आकांक्षा के मेरी कामनारहित उपासना सात्त्विक है। महत्त्वाकांक्षायुक्त उपासना राजसिक है, जबकि अन्य लोगों को हानि पहुँचाने के दृष्टिकोण से की गयी उपासना तामसिक है।'

अपेक्षा का अभाव महत्त्वपूर्ण तो है, लेकिन यह काफी दुष्कर भी है। प्रारम्भ में यदि कुछ अपेक्षा है, तो भी चिन्ता न करो। भक्तियोग की साधना में प्रगति के साथ यह स्वत: ही दूर हो जायेगी। अपेक्षारहित होने का भाव हमारे दैनिक जीवन में भी उपयोगी है। यदि तुम किसी की सहायता करते हो तो उससे कृतज्ञता या धन्यवाद ज्ञापन की अपेक्षा न करो। बल्कि तुम्हें ही उसे धन्यवाद देना चाहिये क्योंकि उसने तुम्हें सेवा का एक मौका दिया है।

यह संसार एक पाठशाला है, जहाँ तुम स्वयं के बारे में ज्ञान प्राप्त करते हो, जहाँ तुम अपनी कमियों को, अपनी आंतरिक समस्याओं को पहचानते हो और उनका निवारण करते हो। इस तरह इस जगत् का प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु तुम्हारा शिक्षक बन जाता है। लोगों तथा परिस्थितियों का सामना किये बिना तुम कभी भी अपनी सीमाओं और कुण्ठाओं को समझ नहीं सकोगे। इसलिए जिससे भी तुम मिलते हो उसे धन्यवाद दो, क्योंकि वह तुम्हें कुछ-न-कुछ नया ज्ञान दे रहा है, कुछ नया सिखा रहा है। हर परिस्थिति को जीवन का एक नया अध्याय मान कर देखो। सम्भव है कि तुम किसी व्यक्ति की भौतिक रूप से मदद कर रहे हो, लेकिन साथ ही वह भी तुम्हें स्वयं को समझने में मदद कर रहा है। यदि तुम किसी समस्याग्रस्त व्यक्ति की सहायता कर रहे हो तो जितना तुम उसे दे रहे हो, शायद वह भी तुम्हें उतना ही दे रहा है।

अपेक्षारहित होना भक्तियोग का आधारभूत तत्त्व है। चैतन्य महाप्रभु ने इसे बड़े ही संक्षिप्त और सुंदर ढंग से अभिव्यक्त किया है–'मैं न तो धन के लिए, न यश के लिए, न सुख के लिए और न ही कवित्व के उल्लास के लिए प्रार्थना करता हूँ। जीवनभर प्रेम और भक्ति बनी रहे और मैं तुमसे विशुद्ध प्रेम कर सकूँ, मात्र इसके लिये मैं प्रार्थना करता हूँ।' यह आकांक्षारहित, अपेक्षारहित भाव ही भक्ति का सार है। इसे लक्ष्य के रूप में अपने सामने रखो और अपनी साधना को तदनुसार दिशान्तरित करो।

अहंकार का नाश

भक्तियोग में समर्पण-भाव की महत्ता है। यही इसकी विशेषता है। इसके परिणामस्वरूप अहंकार का विलय होता है और चेतना व्यापक बनती है। सांसारिक प्रेम आदान-प्रदान पर निर्भर होता है। कोई किसी को प्रेम देता है और बदले में प्रेम पाने की आकांक्षा रखता है। यह अहं-केन्द्रित प्रेम है, भक्ति नहीं। भक्ति वह प्रेम है जिसके बदले में पाने की कोई आकांक्षा, कोई अपेक्षा नहीं रहती। भक्ति का तात्पर्य लेना नहीं, केवल देना ही देना है।

व्यक्ति जैसे-जैसे भक्ति मार्ग में आगे बढ़ता है, स्वार्थ की भावना दूर होती जाती है। एक रूपान्तरण आता है, अधिकाधिक न्यौछावर कर देने, लुटा देने और समर्पित कर देने के रूप में। जैसे-जैसे साधक अपनी सीमाओं को पहचान कर उन्हें दूर करता जाता है, सजगता में वृद्धि के साथ भक्ति का यह भाव भी बढ़ता जाता है। इस तरह भक्ति-भाव में तीव्रता आती है। उसके साथ ही सजगता का स्तर भी ऊँचा हो जाता है। इस प्रकार भक्ति जितनी ही प्रचंड होती है उतना ही अहंकार कम होता है। अंतिम लक्ष्य भक्ति की उस अवस्था को प्राप्त करना है जहाँ इष्ट से पूरी तरह तादात्म्यता स्थापित हो जाती है, भक्त और इष्ट एक हो जाते हैं। इसी अवस्था पर पहुँच कर हनुमान जी की तरह हम भी कह सकते हैं–'हे राम, जब मैं स्वयं को शरीर-रूप में देखता हूँ, तब आपका सेवक होता हूँ। जब मैं अपने को जीवरूप में देखता हूँ, तब आपका एक अंश होता हूँ। लेकिन जब मैं इन सब उपाधियों को छोड़ देता हूँ, तब अनुभव करता हूँ कि मैं ही आप हूँ।'

एक बार भक्ति हृदय को प्रभावित करना प्रारंभ करती है तो फिर हर अनुभव अभिमान और अहंकार को कम करने का एक नया पाठ, एक नया साधन बन जाता है। जीवन में कुछ सफलता पाकर अहंकारी हो जाना स्वाभाविक है। व्यवसाय, शिक्षा या किसी अन्य क्षेत्र में थोड़ी सफलता मिली नहीं कि हम समझते हैं, 'मैं कितना काबिल हूँ।' अहं का इस प्रकार बढ़ना बड़ा ही सरल है। पर यह बड़ी विचित्र बात है कि भक्ति योग के मार्ग में जब भी अहंकार तुष्टि का कोई मौका आता है, कोई ऐसी घटना घटती है जो हमारे इस अहंकार को चूर-चूर कर देती है। इस प्रकार हमें अनुभव होता है कि अहं किस तरह हमसे खिलवाड़ करता है और कैसे हमारे व्यक्तित्व पर हावी हो जाता है। भक्त होने का यह एक लाभ है। इस तरह घटनाओं का क्रम ही कुछ ऐसा होता है कि वे निरंतर हमारे अहंकार की जड़ों पर प्रहार करती हैं।

उच्च चेतना की उपलब्धि के मार्ग में सर्वाधिक बाधक अहंकार है। जब साधकों को थोड़ा आध्यात्मिक अनुभव होता है तब वे लोभी और अहंकारी हो जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वे अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं। इस तरह वे अहंकार के फंदे में फँस जाते हैं। यह स्थिति चेतना विस्तार के मार्ग में बाधक है।

यद्यपि यह मिथ्याभिमान बाधक है, परन्तु आध्यात्मिक जीवन में इसका अपना एक स्थान है। एक तरह से ये विक्षेप कृपास्वरूप हैं, क्योंकि अहंकार के इन स्वरूपों को जाने बिना, उनका सामना किये बिना हमें उनके अस्तित्व का पता ही नहीं चलेगा। जब हमें इनका पता ही नहीं चलेगा तो इन्हें दूर कैसे करेंगे और इन विक्षेपों को दूर किये बिना आध्यात्मिक उन्नति होने वाली नहीं। वास्तव में आत्मा की इस अंधेरी निशा में ही अपनी कमियों और कमजोरियों से हमारा सामना होता है और हम उन्हें दूर करने हेतु कदम उठाते हैं। इसलिए यह अहंकारयुक्त अवस्था आध्यात्मिक जीवन की बाधा भी है और अनिवार्यता भी। इससे नम्रता आदि गुणों का विकास होता है, जो भक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यह बड़ी विचित्र बात है कि इस अंधकार की अवधि में, आध्यात्मिक अपकर्ष काल में ही भक्ति के आवेग को बढ़ाया जा सकता है। इसी दौरान साधक भ्रांत धारणाओं, मार्ग के अवरोधों और अहंकार की प्रबलता को स्पष्ट रूप में देखता है। इस तरह वह महसूस करता है कि व्यक्तिगत दुर्बलताओं में कुछ और शेष रह गया है और उन्हें दूर करने का प्रयास करना जरूरी है। तभी यह महसूस होता है कि अहंकार की इन भावनाओं की जानकारी कितनी महत्त्वपूर्ण है। अंधकार जितना गहरा होगा, भक्ति उतनी ही प्रगाढ़ होगी। इस तरह अज्ञान की अंधेरी निशा अंततः प्रकाश के उदय का मार्ग प्रशस्त करती है। अहंकार की घनी काली छाया छँट जाती है और जीवन में आनंद, सामंजस्य और शांति का उदय होता है।

–'तंत्र, क्रिया और योगविद्या' से उद्धृत

भक्ति मीमांसा

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

भक्ति मन और चेतना की एक विशेष अवस्था है। जिस प्रकार भोग की आकांक्षा मन की एक स्थिति है, जैसे विषयों की आकांक्षा मन की एक वृत्ति है, उसी प्रकार जब मनुष्य स्वयं को ईश्वर से जोड़ना चाहता है, अच्छाई को अपनाना चाहता है, तामसिकता को त्यागना चाहता है, सत्त्व को अपनाना चाहता है, तो उसके लिए उसे अपने साथ संघर्ष करना पड़ता है।

भक्ति को शास्त्रों में चित्त की एक वृत्ति माना गया है। योग में वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। ये पाँच वृत्तियाँ तमस्, रजस् और सत्त्व के प्रभावों से अन्य वृत्तियों को जन्म देती हैं, जो हमारे व्यवहार में प्रकट होती हैं। योग शास्त्र में कहा है— *'वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाक्लिष्टा:'* अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृत्ति वृत्तियों में सुख और दु:ख, दोनों का अनुभव होता है। इनको पार करने के बाद एक अन्य वृत्ति का जन्म होता है, जिसे ब्राह्मी वृत्ति कहते हैं। यह ब्राह्मी वृत्ति ही मनुष्य के जीवन में भक्ति वृत्ति कहलाती है।

जो सुख मनुष्य संसार में खोजता है, वह विषय-वस्तुओं से जुड़ा है। विषय-वस्तु से जुड़ा हुआ सुख क्षण-भंगुर होता है। जब तक विषय है, सुख है। जब विषय नहीं, सुख नहीं। आदमी चाहता है कि जीवन को सुखी बनाने के लिए संसार में जो कुछ उपलब्ध है वह उसके पास होना चाहिए। पर हमारे मनीषी कहते हैं कि जीवन के जिस सुख के पीछे तुम भाग रहे हो और जिस दु:ख के निवारण का प्रयत्न कर रहे हो, वह क्षण मात्र का है। जिसको तुम दु:ख मानते हो, वह क्षणिक है, बीत जाएगा। जिसको तुम सुख मानते हो, वह भी क्षणिक है। वह भी बीतेगा। सुख और दु:ख संसार से ही, विषयों से ही प्राप्त होते हैं, लेकिन अगर शाश्वत सुख प्राप्त करना है तो फिर तुम्हें सुख के स्रोत की ओर जाना होगा।

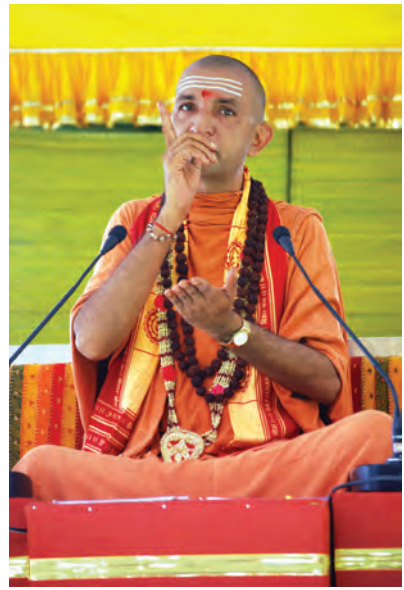

ईश्वर का स्वरूप सुख, आनन्द, सत्य और चैतन्यता है। इसीलिए जीवन का उद्देश्य होता है संसार के समस्त

कर्मों को करते हुए भी संसाराभिमुख नहीं, ईश्वराभिमुख होना। ईश्वराभिमुख होने का मतलब अपने जीवन में भक्ति को स्थान देना। जो व्यक्ति संसाराभिमुख है, संसार की ओर देखता है, संसार से तादात्म्य जोड़ता है, उसका लक्ष्य भोग होता है। लेकिन जो व्यक्ति स्वयं को परमात्मा से जोड़ता है उसका लक्ष्य भोग नहीं, बल्कि सुख, आनन्द और शान्ति होता है। परमात्मा को सुख का सागर कहा गया है, जिसको प्राप्त कर लेने के पश्चात् जीवन के समस्त दु:ख स्वत: समाप्त हो जाते हैं।

ज्ञान, कर्म और भावना वृत्ति

ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहा है, *'मनस्त्वेकमनेक वृत्तिकं'* कि इस मन की अनेक वृत्तियाँ हैं, और भक्ति शास्त्र में इन वृत्तियों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—ज्ञान की वृत्ति, भावना की वृत्ति और कर्म की वृत्ति। इन तीनों वृत्तियों में परस्पर सामंजस्य होता है। प्रधानता एक वृत्ति की होती है पर शेष दो का सहयोग और सामंजस्य उस प्रधान वृत्ति के साथ होता है। कभी ज्ञान प्रधान वृत्ति होती है, लेकिन उसमें भी भावना और कर्म का समावेश निश्चित रूप से होगा।

एक उदाहरण देता हूँ। अभी आप भक्ति विषय पर मेरी बात सुन रहे हैं। अभी आप में ज्ञान की वृत्ति प्रधान है। जैसा सुनते हैं, वैसी एक भावना प्रकट होती है। इस तरह भावना की वृत्ति का भी सहयोग है। और जैसा करने को कहूँ, अगर वैसा करें तो कर्म वृत्ति का भी सहयोग रहता है। ज्ञान की वृत्ति प्रधान है, लेकिन उसमें भावना और कर्म की वृत्तियों का भी सहयोग है।

एक खिलाड़ी फुटबॉल लेकर दौड़ रहा है। उस समय कर्म वृत्ति प्रधान है। लेकिन उस कर्म वृत्ति के साथ ज्ञान वृत्ति भी है, क्योंकि खिलाड़ी को पता है कि गोल कहाँ है। सभी बाधाओं को पार करते हुए गोल की तरफ जाना है और गोल करना है। यहाँ कर्मवृत्ति को ज्ञान की वृत्ति सहयोग दे रही है। ज्ञान वृत्ति के द्वारा क्रियावृत्ति को एक लक्ष्य मिल रहा है। और जब खिलाड़ी गोल करता है तो उसकी भावना वृत्ति जाग्रत होती है। वह प्रफुल्लित हो जाता है कि मैंने गोल किया, एक प्वाइंट जीता।

चाहे तुम सत्संग सुनो या फुटबॉल खेलो, तुम्हारे भीतर एक वृत्ति अधिक प्रबल रहेगी और शेष दो वृत्तियों का साथ रहेगा। लेकिन भक्ति शास्त्र में भावना वृत्ति का महत्त्व है। *'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत तिन देखी तैसी'*—जिसकी जैसी भावना रहती है, वैसे ही वह प्रभु के रूप को देखने में सक्षम होता है।

भावना वृत्ति से शरीर में कंपन होने लगता है, रोमांच होने लगता है। कंपन और रोमांच भावना वृत्ति की शारीरिक अभिव्यक्तियाँ हैं। जब भावना से हृदय द्रवित हो जाता है, आँखों से आँसू निकलने लगते हैं, तो यह भाव-वृत्ति की क्रिया-वृत्ति है। भाव वृत्ति में रस भी होता है। भाव-वृत्ति में रस के अनुभव से मनुष्य श्रद्धा और

प्रेम को प्राप्त करता है। अगर भाव-वृत्ति में रस का अभाव हो, तो भक्ति भावना नहीं जागेगी; श्रद्धा, प्रेम और संवेदनशीलता का विकास नहीं होगा। इस प्रकार भाव-वृत्ति का एक अन्य रूप हो जाता है रसात्मक, जिसमें प्रेम, श्रद्धा, विश्वास आदि स्वत: उपजते हैं।

भाव-वृत्ति का एक रूप आवेशात्मक भी होता है, आवेश का आ जाना। आवेश कभी भय का रूप लेता है, कभी क्रोध का, तो कभी अवसाद का। कभी वह अन्तर्मुखता का रूप लेता है तो कभी बहिर्मुखता का। आवेशात्मक अवस्थाओं में मनुष्य पागल की तरह बर्ताव करता है। भक्ति में संयम की आवश्यकता होती है, क्योंकि आवेशात्मक वृत्ति को प्राप्त करना भक्ति का उद्देश्य नहीं है। रागात्मक वृत्ति को प्राप्त करना भक्ति का उद्देश्य नहीं है। भक्ति का उद्देश्य है स्वयं को आनन्द के स्रोत से एकाकार कर देना।

दर्शन, श्रवण और चिन्तन

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्राह्मी वृत्ति को जन्म लेना है। तुम चित्त के स्वभाव को अच्छी तरह से जानते हो। चित्त जिस विषय का दर्शन करता है, जिसका श्रवण करता है, जिसका चिन्तन करता है, उससे तदाकार हो जाता है। अगर किसी अच्छी वस्तु को देखोगे तो चित्त उससे एकाकार हो जाएगा। अगर किसी घृणित वस्तु को देखोगे तो चित्त उससे भी एक होगा। अगर अच्छे शब्दों को सुनोगे तो चित्त उन शब्दों से एक होगा। अगर बुरे शब्दों को सुनोगे तो चित्त उन बुरे शब्दों से प्रभावित होगा। दर्शन से, श्रवण से और अनुभव से जो कुछ भी चित्त प्राप्त करता है, वह मनुष्य जीवन का अभिन्न अंग हो जाता है।

श्रवण मनुष्य की एक मौलिक वृत्ति है। अगर मैं कहूँ कि आप अच्छे आदमी हैं तो आप बहुत प्रसन्न हो जाएँगे, प्रफुल्लित हो जाएँगे। अगर मैं कहूँ कि आप खराब हैं तो आप नाराज हो जाएँगे। केवल श्रवण से ही ऐसा हुआ। मैं जो कह रहा हूँ उससे आपका मन एकाकार हो गया और उसके अनुरूप आप प्रतिक्रिया करते हो। अगर पागल कहें तो पागल की तरह प्रतिक्रिया करोगे और अच्छा कहें तो अच्छे की तरह प्रतिक्रिया करोगे। श्रवण, मनन और दर्शन मात्र से प्रतिक्रिया होगी। फूल को देखते हो, आकर्षित होते हो। कचरे को देखते हो, भागते हो। ऐसा क्यों होता है? जो देखते हो उसके साथ चित्त एकाकार हो जाता है। एकाकार होने पर या तो उसे स्वीकार करेगा या अस्वीकार।

दृष्टि को टिकाने के लिए स्वरूप की आवश्यकता होती है, श्रवण के लिए शब्द और ज्ञान की आवश्यकता होती है तथा मनन के लिए अनुभव की आवश्यकता होती है। जब तक अनुभव नहीं, मनन नहीं। मनन और अनुभव एक दूसरे के पूरक हैं। मनन करोगे, चिन्तन करोगे, विचार करोगे तभी जाकर

आगे अनुभव प्राप्त कर पाओगे। अगर चिन्तन नहीं, प्रयास नहीं, मनन नहीं तो कौन-सा अनुभव? इसीलिए भक्ति में एक आराध्य, एक मंत्र और एक स्मृति की आवश्यकता होती है। आराध्य को जिस रूप में तुम अपनाना चाहो, देखना चाहो, देखो। धरती में देखो, आकाश में देखो, मूर्ति में देखो, कण-कण में देखो, चित्त में देखो, अपने में देखो, श्वास में देखो, दूसरों में देखो, जहाँ भी देखना चाहो, जिस रूप में भी देखना चाहो, देखो। और जिस रूप में तुम देखते हो वह तुम्हारे लिए आराध्य का साकार रूप है।

जो सुनते हो, अच्छा सुनो। उससे मन परिवर्तित होगा। किसी की निन्दा सुनोगे, किसी की स्तुति सुनोगे, इसमें समय ही बर्बाद होगा। आलोचना-प्रत्यालोचना में, गप-शप में मनुष्य कुछ प्राप्त नहीं करता, बल्कि अपने मन की संवेदनशीलता को कम करता है। समझने की क्षमता बाधित हो जाती है, दूसरों के कहने के आधार पर हम अपने विचार बनाने लगते हैं। दूसरों के निर्णय से हम अपना निर्णय लेने लगते हैं। गप-शप में, निन्दा-स्तुति में, घृणा-प्रेम में, ईर्ष्या-द्वेष में, वासना-कामना में, अपनी संवेदनशीलता, अपना विवेक बाधित हो जाता है। लेकिन जब कुछ ऐसा सुनते हैं जो हमें आंतरिक सुख-शान्ति प्रदान करता है और हमारे जीवन के लिए एक लक्ष्य निश्चित करता है, तब वह मानसिक और भावनात्मक एकाग्रता का प्रतीक है।

भक्ति में कहा है कि श्रवण, मनन और दर्शन, ये तीन मुख्य आधार हैं, इन्हीं के माध्यम से मनुष्य इस संसार में रहकर अपना कार्य सम्पन्न करता है। जब भगवान के श्रवण-मनन से आकर्षित चित्त की वृत्ति भगवान की ओर प्रवाहित होने लगती है, तब उस प्रवाह को कहते हैं—भक्ति। जब तक चित्त की वृत्ति ईश्वर की ओर प्रवाहित नहीं होती, भक्ति नहीं है। जब तुम्हारे चित्त की सभी वृत्तियाँ, श्रवण और मनन से ईश्वर का स्मरण करती हैं तब भक्ति भावना प्रकट होती है।

भक्ति की परिभाषा—सेवा और प्रेम

भक्ति का वास्तविक मतलब क्या होता है? संस्कृत के *'भज् सेवायाम्'* धातु से भक्ति शब्द की उत्पत्ति होती है। जब *भज्* धातु में *क्तिन्* प्रत्यय लगता है तो भक्ति शब्द का निर्माण होता है। *क्तिन्* का अर्थ होता है प्रेम। और मूल *भज्* धातु का अर्थ है सेवा। जहाँ पर मनुष्य दूसरे से जुड़े और जहाँ पर प्रेम हो, वही भक्ति है। यह हमारे शास्त्रों का वचन है। ईश्वर की आराधना को, ईश्वर के चिन्तन को, मंत्र-जप को भक्ति नहीं कहा गया, बल्कि भक्ति का साधन माना गया। चिन्तन-मनन मात्र एक साधन है, मंत्र-जप मात्र एक साधन है, आराधना-पूजा मात्र एक साधन है। भक्ति की परिभाषा है जीवन का व्यवहार, जिसमें तुम अपने भीतर प्रेम का अनुभव करते हो, जिससे दूसरों को सुख मिलता है। *भज् सेवायाम्* धातु और *क्तिन्* प्रत्यय, अर्थात् सेवा और प्रेम—जीवन के यही दो व्यवहार भक्ति के प्रतीक माने गये हैं।

जिसके जीवन में सेवा और प्रेम की भावना जागृत है, वह भक्त कहलाता है। यह प्रेम निष्कपट होना चाहिए। इसमें कोई छल नहीं, कोई अपेक्षा नहीं, केवल शुद्ध प्रेम। तभी जाकर भक्ति सधती है। सामान्य रूप से तुम जिस प्रेम का अनुभव अपने जीवन में करते हो, वह या तो अपनी सन्तान के लिए करते हो, या धन-सम्पत्ति के लिए करते हो, या शान्ति के लिए करते हो। या फिर पति-पत्नी-मित्र आदि के सम्बन्धों को ही प्रेम कह देते हो। शास्त्रों में ऐसा नहीं कहा गया। महर्षि शाण्डिल्य का कहना है कि ईश्वर के प्रति परम अनुराग ही भक्ति है।

परम अनुराग में प्रेम की भावना और सेवा की क्रिया, दोनों का समावेश हो रहा है। साथ में ज्ञान भी है कि मैं भगवान का कार्य कर रहा हूँ। इन तीनों का योग हो रहा है। मैं ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य कर रहा हूँ, वह ज्ञान है। मैं अपने लिए नहीं, दूसरों के सुख के लिए कर रहा हूँ, वह सेवा है। और मैं सभी से प्रेम करता हूँ, मेरा प्रेम व्यापक हो गया है, वह परम प्रेम है। ये भक्ति के तीन पक्ष हैं जो एक होकर भक्ति को प्रकट करते हैं। भक्ति की जो व्याख्या हमारे परम गुरु स्वामी शिवानन्द जी ने की, और जिस व्याख्या को हमारे गुरु स्वामी सत्यानन्द जी ने आगे बढ़ाया, वह यही है। सेवा, प्रेम और ज्ञान के रूप में भक्ति का यही परिचय है।

—'भक्ति साधना' से उद्धृत

प्रार्थना

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

ईश्वर-सान्निध्य के लिए मनुष्य का प्रयास ही प्रार्थना है। यह प्रचण्ड अध्यात्म-बल है। प्रार्थना की शक्ति भी उतनी ही सत्य है जितनी कि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति। प्रार्थना के लिये महान् पाण्डित्य या योग्यता की आवश्यकता नहीं है। इसमें केवल आपका भाव अपेक्षित है। एक सुयोग्य विद्वान् के धाराप्रवाह शब्दों और व्याख्यानों की अपेक्षा एक अशिक्षित व्यक्ति के विनम्र, शुद्ध अन्त:करण से निकले कुछ शब्द भगवान को अधिक प्रिय लगते हैं। प्रार्थना-काल में आप भगवान के साथ एकलय हो जाते हैं। आप अक्षुण्ण ब्रह्माण्डीय शक्ति के स्रोत से जुड़ते हैं और उनसे ओज, शक्ति, प्रकाश तथा बल प्राप्त करते हैं।

भगवान से दिव्य ज्योति के अवतरण के लिये कातर प्रार्थना करो। उनकी दया की याचना करो। उनके विरह में रोओ। उनके सान्निध्य के लिये मचलो। दिव्य प्रेम की आग में मन को तपाओ। प्रगाढ़ शांति में विलीन हो जाओ। भक्ति की अग्नि में शरीर को जला दो और प्रेमामृत पीओ। दिव्य प्रेम की मदिरा पान करके प्रमत्त हो जाओ तथा अमरत्व और परमानंद का उपभोग करो।

नित्य प्रार्थना और सेवा के द्वारा भगवान के साथ हृदय की एकरसता साधो। उनके सामने अपने हृदय को खोलकर रख दो। कोई बात न छिपाओ। एक बच्चे की तरह उनसे वार्त्तालाप करो। नम्र और सरल रहो। अपने पापों के लिये आर्द्र हृदय से उनसे क्षमा-याचना करो। कृपा बरसाने के लिये उनसे आग्रह करो। मनुष्य की सहायता का अवलम्ब न लो। एकमात्र ईश्वर पर ही निर्भर रहो। आपको सब कुछ प्राप्त होगा। उनके दर्शन भी होंगे।

नियमित प्रार्थना से जीवन में सुन्दर परिवर्तन आता है। प्रार्थना आपकी प्रकृति ही बन जानी चाहिये। प्रार्थना की यदि आदत हो जाये तो बिना प्रार्थना के आप जी नहीं सकते। नियमित रूप से प्रार्थना करने वाला मनुष्य उस आध्यात्मिक यात्रा पर चल पड़ता है जो शाश्वत शांति और परम सुख के राज्य को जाती है।

प्रार्थना करते समय पहले मन में भगवान के रूप का ध्यान करना चाहिये और फिर उनके नाम, मंत्र और स्तोत्रों का पाठ करना चाहिये। स्तोत्रों के पाठ से मन उन्नत होता है और प्रेरणा प्राप्त होती है। साथ ही भगवान के साथ मन का मेल सधता है और मन में आनंद एवं शांति का अवतरण होता है। प्रतिदिन भजन-कीर्तन द्वारा भगवान की कृपा प्राप्त करो और उनमें ही निवास करो।

प्रह्लाद के सिर पर उबलता तेल डाले जाने पर प्रार्थना के ही बल से वह ठण्ढा हो गया। मीरा के काँटों की सेज को फूल की सेज में परिवर्तित करने वाली और

साँप को फूलमाला में बदल देने वाली प्रार्थना ही थी। द्रौपदी ने भी अनन्य भाव से प्रार्थना की। श्रीकृष्ण को उसकी रक्षा के लिये द्वारका से दौड़कर आना पड़ा। गजेन्द्र ने जब हृदय से पुकारा तो भगवान हरि को उसे बचाने के लिये सुदर्शनचक्र के साथ आना पड़ा।

किसी स्वार्थ अथवा भौतिक सुख-सुविधाओं के लिये प्रार्थना मत करो। भगवान की दया के लिये प्रार्थना करो। प्रकाश, चित्तशुद्धि और मार्गदर्शन के लिये प्रार्थना करो।

अनन्य भक्ति और आत्मसमर्पण द्वारा भगवान की कृपा प्राप्त की जा सकती है। परमेश्वर कितने दयालु हैं! श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथि बने, उन्हें गीता सुनायी। उन्होंने द्रौपदी और मीरा की रक्षा की, अन्धे सूरदास को रास्ता दिखाया, दामाजी के लिये नवाब की हुण्डी सकरायी तथा नरसी मेहता की रकम चुकायी। उनके चरण कमलों में अपने हृदय और मन को समाहित करो। उनकी स्तुति करो। उनका नाम स्मरण करो। वे आपके लिये सब कुछ करेंगे। भगवान कृष्ण अपने भक्तों के दास हैं।

प्रार्थना से मन उन्नत होता है, चित्त शुद्ध होता है। प्रार्थना से मन ईश्वरलीन रहता है। प्रार्थना की पहुँच वहाँ तक है जहाँ बुद्धि या विचार कतई नहीं पहुँच सकते। प्रार्थना से पहाड़ हिल जाता है, अद्‌भुत चमत्कार होते हैं। प्रार्थना भक्त को भय और मृत्यु से मुक्त करती है, भगवान के समीप लाती है, दिव्य ज्ञान की प्राप्ति करा देती है तथा उसे अमरता का अनुभव करा देती है। प्रार्थना से मन और शरीर में अद्‌भुत शक्ति का संचार होता है, बुद्धि सूक्ष्म और तेज होती है। सच्ची और निष्ठापूर्ण प्रार्थना से असाध्य रोग भी अच्छे हो जाते हैं।

प्रार्थना से अध्यात्म लहरियों का संचार होता है और मन में शांति स्थापित होती है। प्रार्थना की शक्ति अनिर्वचनीय है। उसकी महिमा अगम्य है। सच्चे भक्त ही उसके लाभों और गुणों से परिचित होते हैं। प्रार्थना श्रद्धा, विश्वास और भक्ति-स्निग्ध हृदय से करनी चाहिये। हे अज्ञानी मानव! प्रार्थना की शक्ति के बारे में विवाद मत करो। तुम भ्रम में बह जाओगे। अध्यात्म में विवाद का कोई स्थान नहीं है। बुद्धि सीमित और दुर्बल साधन है। उस पर निर्भर न रहो। अपने अंदर के अज्ञानांधकार को प्रार्थना-ज्योति से दूर करो।

सत्यम् वाणी

जो स्वयं को सभ्य कहते हैं उन्हें स्त्री जाति के प्रति इतना अन्याय नहीं करना चाहिये, इतने नियम नहीं बनाने चाहिये, उनकी भूमिका सीमित नहीं करनी चाहिये। सभ्य समाज में स्त्री की भूमिका 'यह है, यह नहीं है', कहना गलत है। अब तो आँखों के सामने प्रमाणित हो चुका है। क्या पहले कोई आशा कर सकता था कि कोई लड़की अन्तरिक्ष विज्ञान में इतनी माहिर हो सकती है? खासकर के कल्पना चावला का अन्तरिक्ष में जाना कोई छोटी-मोटी घटना नहीं है। यह स्त्री जाति के लिये एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, और हमारी पुरुष प्रधान सभ्यता के लिए बहुत बड़ी चुनौती।

हमारी सभ्यता मध्य एशिया की सभ्यता नहीं है, लेकिन लम्बे अर्से से उस सभ्यता का अनुकरण किया है और कर रही है। रूखी सभ्यता है वह। वहाँ तो घूँघट लगाना पड़ता है। मध्य एशिया में जब रेत उड़कर आती है, वह इतनी गर्म रहती है जैसे अंगार की चिंगारी। बदन काला पड़ जाता है। रेत उड़कर आती है, इसलिये वहाँ घूँघट लगाते हैं। हिन्दुस्तान में इसकी क्या जरूरत है?

वहाँ हमारे जैसे गाँव थोड़े ही होते हैं। एक घर यहाँ है तो दूसरा घर रिखिया हाट पर और तीसरा घर रिखिया मोड़ पर, वहाँ ऐसे गाँव होते हैं। एक मकान से दूसरे मकान के बीच तीन-चार मील का फासला रहता था। पानी लाने के लिये पाँच-छ: मील जाना पड़ता था। जब हम गये थे तब की बात कह रहा हूँ, अब तो खैर कुछ बदलाव आ गया होगा। कई गाँवों को मिलाकर एक कुआँ होता है, वहाँ से लोग पानी लाते हैं, इतनी मुश्किल है। वह सभ्यता हम लोगों को मिल गई और हम उसी सभ्यता को अपने कंधे पर लादे हुए हैं। हमारी सभ्यता मूलत: मध्य एशिया जैसी नहीं, बल्कि पाश्चात्य सभ्यता के अगल-बगल में चलती है। हम लोगों को सोचने का तरीका और बाकी सब चीजों का तरीका बदलना होगा। स्त्री जाति की भूमिका भी बदलनी होगी। उसके बिना घर अच्छा नहीं चल सकता।

जिसे तुम हिन्दू धर्म कहते हो, मूलत: वह वैदिक धर्म है। हमारे जितने भी सामाजिक आचार-विचार, कर्म-संस्कार हैं, वे वेदों पर आधारित हैं। जैसे बाइबिल या कुरान में केवल एक बात कही गयी है, वैसे वेदों में केवल एक बात नहीं है। विवाह के बारे में ही हमारे यहाँ कितने मत हैं। पत्नी की क्या परिभाषा है? पुत्र किसको कहते हैं? स्त्री-पुरुष के संयोग से कहीं कुछ पैदा हो गया तो क्या वह पुत्र है? वेदों में चौबीस प्रकार के पुत्रों की व्याख्या है और फिर उनकी कानूनी व्याख्या होती है। औरस पुत्र से लेकर जायज पुत्र तक चौबीस प्रकार की संतानों के अपने कानूनी अधिकार हैं, अलग-अलग सामाजिक पहचान है।

वेदों ने बड़ा स्वतंत्र चिन्तन किया है। वहाँ समझाया है कि विवाह किसे कहते हैं। विवाह की कोई तर्कशील परिभाषा तो होनी चाहिये। स्त्री-पुरुष साथ में रहें तो क्या विवाह हो गया? विवाह की क्या परिभाषा है और उसमें निर्णय करने का अधिकार किसको है? स्त्री-पुरुष करेंगे या माता-पिता करेंगे या समाज करेगा।

माता-पिता कहते हैं, 'हम निर्णय करेंगे, तुम कौन होते हो?' हमारे जैसा आदमी कहेगा, 'हम निर्णय करेंगे। शादी तो हमें करनी है, तुम्हें थोड़े ही करनी है।' माता-पिता कहते हैं, 'हम अनुभवी हैं।' हम कहते हैं, 'हमारी जरूरत है।' बात दोनों की ठीक है, अब कहीं पर दोनों का समझौता होना चाहिये। समाज कहता है, 'नहीं, शादी व्यक्तिगत चीज नहीं है कि तुमने किसी से कर ली क्योंकि तुम्हारी पसंद की है। समाज कहाँ पर आया इसमें?' वेदो में यह सब कथा-कहानियों, दृष्टांतों और इतिहासों के माध्यम से कहा गया है। समाज कहता है कि शादी व्यक्तिगत और माता-पिता के निर्णय की चीज नहीं है, यह समाज की चीज है। इसलिये समाज भी इसमें आयेगा। समाज, व्यक्ति और अभिभावक, तीनों के निर्णय से जो विवाह होता है, उसे वैदिक विवाह कहते हैं। ब्राह्म, गांधर्व, आसुर, पैशाच—सभी विवाह के रूप हैं न! जैसे भगवान कृष्ण रुक्मिणी को भगाकर लाए, उसे क्या बोलोगे? राक्षस विवाह न?

अब सीता-राम के विवाह का प्रसंग देखो, कितना सुन्दर है! रामजी को सीताजी पसंद आ गईं, सीताजी को भी रामजी पसंद आ गये, जनक और सुनैना को भी रामजी पसंद आ गये, और सब से बड़ी चीज, मिथिला के समाज को रामजी पसंद आ गये। तीन चीजें आईं न—अभिभावक, लड़का-लड़की और समाज? वेदों में स्वयंवर को भी स्वीकार किया है और अपहरण को भी। ऐसा नहीं कि अपहरण

की हुई लड़की को बाहर निकाल दोगे। अब ले ही आये हो तो रखो, लड़की की जिन्दगी का सवाल है।

हमारे वैदिक धर्म में स्त्री और पुरुष धर्म के साक्षी माने जाते हैं अर्थात् कोई भी धार्मिक कृत्य या यज्ञ हो, पति-पत्नी के साथ रहे बिना नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि पति-पत्नी समान हैं, किन्तु तुम लोगों ने कुछ ऐतिहासिक कारणों की वजह से स्त्री की भूमिका को सीमित कर दिया। वे ऐतिहासिक कारण कौन से थे, बतलाने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन वे ऐतिहासिक कारण अब हमारे समाज में विद्यमान नहीं हैं। ऐसी हालत में स्त्री जाति को घर में बन्द करके रखना और उसकी भूमिका सीमित करना गलत है।

मुझे कुछ दिन पहले ही पता चल गया था कि कल्पना चावला अन्तरिक्ष में जा रही है। मैंने कहा कि आज के युग में यह बहुत जरूरी है। स्त्री जाति की उपलब्धियाँ आज सम्भव हैं। समाज को मजबूत बनाने, परिवार को सबल बनाने के लिये स्त्री का सबल होना जरूरी है, जिसके लिए शिक्षा का मार्ग हो। शारीरिक रूप से भी औरत कमजोर नहीं है। चीन और रूस की महिला खिलाड़ियों को देखा है कभी आपने! वे ओलिम्पिक खेलों में क्या कमाल दिखाती हैं। खाड़ी-युद्ध में भी तो लड़कियाँ थी। हमारे यहाँ की लड़कियाँ हवाई जहाजों में हैं, कमाण्डो प्रशिक्षण में भी लड़कियाँ आ रही हैं। अमेरिका जैसे देशों में लड़कियाँ पुलिस में, सेना में, सब जगह हैं। ऐसी तो कोई बात नहीं कि उनसे काम नहीं हो सकता है। औरत को केवल भोजन बनाने के लिये, केवल बच्चे पालने के लिए घर में रखना गलत है।

बच्चों का लालन-पालन किसी ऐसे पेशेवर से करवाया जाए, जो उस विद्या को, बच्चे की बीमारी को, उसके मनोविज्ञान को, उसके खान-पान को जानती हो, तो अच्छा है। इंग्लैण्ड जैसे देशों में बेबी-सिटर होते हैं। बेबी-सिटर का लाइसेन्स लेना पड़ता है। वहाँ जो शिशु निकेतन हैं, जहाँ बच्चों को सबेरे माँ-बाप छोड़ जाते हैं, उनका लाइसेन्स होता है। वहाँ सबेरे बच्चे आते हैं, वहाँ की लड़कियों का काम है उनको नहलाना-धुलाना, उनके दाँत देखना कि कहीं दाँत की बीमारी तो नहीं है, उन बच्चों को खिलौनों से खिलाना, ए-बी-सी-डी सिखाना। ऐसी बहुत-सी चीजें सिखाती हैं, फिर शाम को बच्चे वापस चले जाते हैं। इस व्यवस्था का यह अर्थ हुआ कि एक स्त्री के बहुमूल्य जीवन को बरबाद नहीं करना है।

हमारे देश में नब्बे करोड़ आबादी में से पैंतालीस करोड़ का समाज को क्या योगदान मिल रहा है? परिवार के लिये वह कितना कमा पा रही है? अगर स्त्री पढ़ी-लिखी है, नौकरी करे, तीन हजार रुपये कमाए, तो एक हजार में नौकरानी रख ले जो बच्चों को, घर को देख ले। तो भी दो हजार की आमदनी हो जाती है। विदेशों में यही तो करते हैं। यह भी यहाँ गाँववालों को सोचना होगा। शहरों में तो हो ही रहा है, क्योंकि उनके ऊपर दबाव है, गाँवों में अभी दबाव नहीं है।

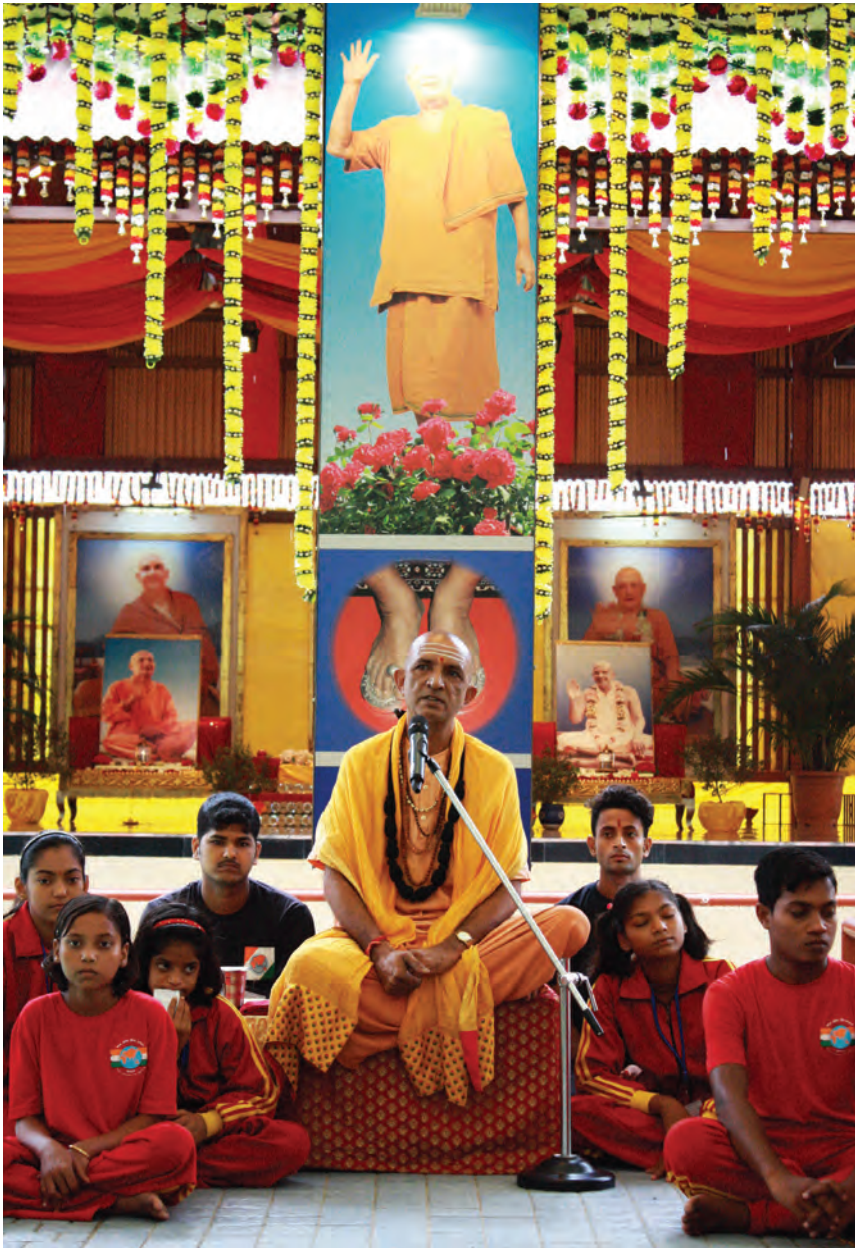

अंतरिक्ष जीवन का चेतना पर असर

अंतरिक्ष का जीवन एक विचित्र जीवन है। वहाँ कोई भार ही नहीं है। जो व्यक्ति भार-रहित स्थान में रहता है, उसके मस्तिष्क और हृदय पर असर पड़ता है। जो लोग ऐसे स्थानों में जाते हैं, उन लोगों की चेतना सामान्य व्यक्ति की चेतना से भिन्न रहती है। एक तो वे शून्य-गुरुत्वाकर्षण में रहते हैं, दूसरी चीज यह कि कई महीने या साल अकेले रहते हैं। न गाड़ी की आवाज सुनाई देती है, न बीवी है, न बच्चे हैं, न बैंक है, न टैक्स है, न दुकान है, न मकान है, कुछ नहीं। उनको टेबलेट वाला भोजन खाना पड़ता है। यह तो नहीं कह सकते कि चलो आज पोहा बनाओ या पुलाव बनाओ या हलवा बनाओ। रोज वही नियमित भोजन लेना होता है। नियम के मुताबिक चलना पड़ता है।

पृथ्वी पर चलने का अनुभव और आकाश में उड़ने का अनुभव एकदम अलग होता है। जब हम हवाई जहाज में बाईस हजार फुट की ऊँचाई पर जाते हैं तो दूसरा ही अनुभव होता है न? उसके बाद जब हम उतरते हैं तो कितने दिन हमको जेटलैग रहता है! एक-दो दिन तक सोना पड़ता है। इसलिये चेतना पर तो असर पड़ता ही है। जितने लोग भी ऊपर अंतरिक्ष में गये हैं, उन लोगों का एक ही कहना है, अजब-तमाशा! जिसने यह बनाया वह राम मुझमें, मैं राम में हूँ!

सूर्य सोम में, अनिल व्योम में,
घरन घटा धरणी में।
तुम सबमें और सभी दिशा में,
छाए नट नागर हो तुम।

वहाँ पर ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव अधिक स्पष्ट होता है। हमने बहुत-से अंतरिक्ष यात्रियों की पुस्तकें पढ़ी हैं, सब का यही अनुभव है। अब भगवान ऊपर ही रहते हैं, ऐसी तो कोई बात नहीं है। भगवान तो यहाँ भी रहते हैं, मगर यहाँ हमें भगवान का अनुभव आसानी से नहीं होता। क्यों? अब जैसे हम बोल रहे हैं, तुम सब सुन रहे हो। अगर यहाँ बैण्ड-बाजा बजने लग जाए तो क्या होगा? हम तो बोल रहे हैं, लेकिन तुम नहीं सुन सकते क्योंकि तुम्हें बैण्ड-बाजा ज्यादा सुनाई देगा। यहाँ दुनिया में इतना बैण्ड-बाजा बजता है कि आदमी को भगवान का ख्याल ही नहीं आता। अन्दर में जो भगवान की आवाज है, जो उनकी मूक ध्वनि है, जो उनका संगीत है, वह हमें नहीं सुनाई देता, क्योंकि ये इन्द्रियाँ बहुत बैण्ड-बाजा बजाती हैं। इच्छा, प्रेम, राग, द्वेष, कामना, क्रोध, चिन्ता, भय—हमारे दिमाग में कितनी चीजें हैं। चिन्ता होती है, डर लगता है, प्रेम होता है, आसक्ति होती है, दिल किसी से लगता है, किसी से झगड़ा होता है, गुस्सा आता है, नहीं होता है क्या? यही तो बैण्ड-बाजा है। जब तक

यह नहीं रुकेगा, तब तक परमात्मा की आवाज को तुम सुन नहीं सकते, हालाँकि परमात्मा यहाँ भी हैं।

ऊपर अन्तरिक्ष में जाने से सामने परमात्मा दिखेंगे? नहीं, परमात्मा तो यहाँ भी हैं, वहाँ भी हैं। जो शटल कल रात अंतरिक्ष में गया, जानतो हो वह कितनी दूरी पर गया है? एकदम अन्तरिक्ष में गया है, जहाँ शून्यता है, भारहीनता है। जैसे हमारा भार यहाँ सत्तर किलोग्राम है, लेकिन वहाँ हमारा भार शून्य हो जायेगा। जब तुम इतने ऊपर चले गये कि तुम्हारा वजन समाप्त हो गया तो पहला अनुभव होता है शरीर के हल्केपन का। जब तुम मेहनत करके आराम करते हो, बिस्तर में अलग अनुभव नहीं होता है क्या? वहाँ हल्कापन महसूस होता है। उसी तरह से वहाँ जाते हो, हल्कापन महसूस होता है, शरीर के वजन का तुम्हें आभास नहीं होता। यह पहला परिवर्तन हो गया वहाँ।

दूसरी चीज, इन लोगों को वहाँ हर एक काम, हर एक चीज बड़े ढंग से करनी पड़ती है। खाना समय पर, सोना समय पर, व्यायाम समय पर, जिसको जो काम मिला है वह समय पर करना पड़ता है। उसमें लापरवाही का कोई सवाल नहीं उठता। सिगरेट-बीड़ी, शराब, स्कॉच, औरत, सब छूट जाती है। वहाँ ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ता है। जुआ-ताश नहीं खेल सकते। क्या यह योगी का जीवन नहीं हुआ? अब जब ऐसा जीवन यापन करते हैं तो निश्चित रूप से उनकी मानसिक चेतना ऊँची होगी और यह तो मानने की बात है कि जो लड़की वहाँ अन्तरिक्ष में कल रात गई है,

कल्पना चावला, वह साधारण लड़की तो नहीं होगी! जैसे गाँव की लड़कियाँ होती हैं वैसे ही वह गाँव की लड़की है, फर्क इतना है कि वह स्कूल में पढ़ी है। पर उसकी तकदीर कुछ ऐसी रही कि अठारह साल में वह देश छोड़कर चली गई, अमेरिका पहुँच गई। उसके दिमाग में हमेशा यही रहा कि अन्तरिक्ष में जाएँ। उसने विज्ञान पढ़ा। अंतरिक्ष जाने के लिये पाँच हजार उम्मीदवार थे, उनमें से इसका चयन किया गया है।

घर-गृहस्थी, सांसारिक संबंधों, प्रेम और घृणा से अलग रहना जिन लोगों के लिये स्वाभाविक हो, वे सामान्य नहीं होते हैं। सामान्य आदमी तो घर-गृहस्थी में, प्रेम में रहना चाहता है, सुरक्षित

रहना चाहता है। संतान, पैसा, स्त्री-पुरुष की संगति चाहता है। मगर कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कहते हैं कि यह भी ठीक है, पर हमें कुछ और बनना है। अब उसके लिये उन्हें कुछ तो त्याग करना पड़ता है। अगर वे त्याग नहीं करेंगे तो कुछ नहीं बन सकते। आखिर कल्पना ने किसी चीज को त्यागा होगा न? वह पैंतीस साल की है। उसने अपने विवाहित जीवन को त्यागा होगा। एक निर्णय तो लेना पड़ा होगा कि शादी करूँ या यह करूँ। उसने प्राथमिकता दी कि यह करूँगी। किसी चीज को पाने के लिये किसी चीज को खोना पड़ता है, यह प्रकृति का अटल नियम है।

वैज्ञानिकों ने बहुत-से आश्चर्यजनक काम किये हैं और बहुत आश्चर्यजनक सिद्धान्तों का पता लगाया है। वे सिद्धान्त हमारे सामने प्रत्यक्ष कर भी दिये हैं। अब दिल्ली में कोई नाच-गा रहा है और तुम देवघर में अपने घर में देख रहे हो। उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला, किसी भी रूप की छवि तरंगों में बदलकर, उसको अन्तरिक्ष के माध्यम से भेजकर फिर उसको यहाँ स्थानान्तरित किया जा सकता है, दर्शाया जा सकता है। यानि केवल आवाज ही नहीं बल्कि रूप भी सम्प्रेषित कर सकते हो।

आजकल उपग्रह से तस्वीर निकाली जाती है, जमीन के अन्दर कहाँ पानी है, कहाँ तेल है, वे लोग यह सब वहाँ से पता लगाते हैं। अभी तो पता लगाया है कि हमारे यहाँ राजस्थान में एक नदी बहती थी। ऋग्वेद में सरस्वती शब्द आता है। सरस्वती के किनारे सामगान किया गया, मगर कोई सरस्वती नदी तो मिली नहीं! अब उपग्रह की तस्वीरों से पता चला है कि राजस्थान में नदी बहती थी। उन्हें उसका पुराना मार्ग मिला है। वह सरस्वती नदी थी, बाद में उसका रास्ता बदल गया, वह पंजाब, सिंध, ब्यास की तरफ चली गई।

आदिकाल में लोग जो मानसिक वार्तालाप करते थे, वह कैसे होता था?

पूर्व काल से हम जो विज्ञान आज प्राप्त कर रहे हैं, उसे पहले चेतना से किया करते थे, जिसको योग कहते हैं। मगर कलियुग में यह निषिद्ध है। कलियुग में कोई भी मनुष्य अपने मन से यह सब संचालन कर सकेगा, यह अब निषिद्ध है क्योंकि कलियुग में मनुष्य का हृदय बहुत कलुषित हो गया है। अगर कलियुग में मनुष्य का मन इतना सक्षम हो जाए जितनी सक्षम आज तुम्हारे यंत्र और मशीनें हैं तो जिन्दा रहने का समय नहीं मिलेगा क्योंकि हर एक मनुष्य का मन कलुषित है। कोई यह नहीं कह सकता कि मेरा मन पवित्र है। सबके मन में हिंसा, क्रोध, वासना और चिन्ता है, गुस्सा आता है, आसक्ति बढ़ी हुई है।

अब ऐसे आदमी को यदि मन की शक्ति दे दी जाए तो क्या करेगा? दूसरों का विनाश ही करेगा न! इसलिये कलियुग में प्रकृति ने मनुष्य से यह शक्ति छीन ली है। पहले के समय में लोग श्राप दे देते थे, अब वह नहीं हो सकता है। किसी भी

व्यक्ति को उसके अधिकार के अनुसार अस्त्र-शस्त्र दिये जाते हैं। अब कहीं भी, कोई भी मनुष्य इतना लायक नहीं रहा।

मनुष्य भौतिकवादी, पदार्थवादी और स्वार्थी हो गया है। आज मनुष्य का परिवार मियाँ-बीवी और बच्चों तक सीमित है, उसके अलावा किसी की वह चिन्ता ही नहीं करता। हम अपने परिवार के लिये कुछ भी बुरा कर सकते हैं, यह आज के मनुष्य की विशेषता हो गई है। अगर तुम्हारा परिवार बढ़कर सारा गाँव, सारी पंचायत, सारा समाज हो जाए, तुम्हारा अपना उत्तरदायित्व बन जाए, तो वह शक्ति वापस आ सकती है। नि:स्वार्थ व्यक्ति को यह शक्ति प्राप्त हो सकती है। अन्यथा कलियुग में यज्ञ, तप, आदि सब मना किया गया है, यह नहीं हो सकता है। आदमी तप करेगा तो खून सूख जाएगा, जिगर खराब हो जायेगा, पेचिश हो जायेगी, मर जायेगा। पहले के जमाने में सुनते हैं न कि ऋषि-तपस्वी क्या-क्या करते थे? आज करके देखो, पन्द्रह दिन भी नहीं कर सकोगे।

प्रकृति ने ऐसा नियम बनाया है कि जब आदमी सच्चा होता है तब उसकी शक्ति का आधार कुछ अलग होता है और जब आदमी बहुत बदमाश होता है, तब उसकी शक्ति का आधार दूसरा होता है। आजकल इतने कानून बने हैं, पहले इतने कानून थे क्या? क्यों नहीं थे? कभी जरूरत ही नहीं थी। जिस समाज में कानून की जरूरत नहीं होती, वहाँ कानून नहीं बनते। लेकिन आजकल हर चीज के लिये कानून बन जाता है, ताकि अपराधी को, बदमाश को फँसाया जा सके। यह ऐसा युग है।

हाँ, कोई-कोई महात्मा पैदा होते हैं, जिनको भगवान थोड़ी-बहुत विभूति दे देते हैं, लेकिन जैसा तुम लोग नारद जी के बारे में सुनते हो, वैसा किसी को देखते हो क्या? वे तो बिना हवाई-जहाज के सभी जगह जाते थे। हनुमान जी के बारे में भी तो सुनते ही हो। यह जिस युग की बात है, उस युग में मनुष्य आज की तरह नहीं था। आज का आदमी बहुत निम्न स्वार्थ वाला हो गया है और उसकी शक्ति एवं आयु भी बहुत कम हो गई है। आज के जमाने में बहुत लोगों को तो पच्चीस-तीस के बाद ही मधुमेह हो जाता है। यह कलियुग है। पहले के जमाने में लोग मन से बातें जान लेते थे, अब तो टेलीफोन से पता लगाना पड़ता है। जो चीज पहले मन से की जाती थी, आज वह मशीन से की जाती है।

जिस तरह बैक्टीरिया को देखने के लिये माइक्रोस्कोप की, दूर की चीज देखने के लिए दूरबीन की और तरंगों एवं किरणों को देखने के लिये अलग-अलग उपकरणों की जरूरत पड़ती है, उसी तरह से भगवान की महानता को जानने के लिये दिव्य-दृष्टि की जरूरत पड़ती है। अर्जुन ने भगवान से कहा, 'भगवन्! आप तो बड़ी-बड़ी बातें कह गये कि नदियों में मैं गंगा हूँ, पर्वतों में मैं हिमालय हूँ, वृक्षों में मैं पीपल हूँ, महीनों में मैं मार्गशीष हूँ, वेदों में सामवेद हूँ, यह हूँ, वह हूँ, इत्यादि। आपने तो अपनी विभूतियों का वर्णन कर दिया, अब मुझे अपनी विभूति

दिखाइये।' भगवान कृष्ण ने कहा, 'इन आँखों से तू नहीं देख सकता। ठीक है, *दिव्यं ददामि चक्षुः*—मैं तुझे दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ। अब तू मेरे योग और ऐश्वर्य को देख।' तब श्री कृष्ण ने उसे विराट-रूप दिखाया। जो विराट रूप दिखाया, वह इन आँखों ने नहीं, बल्कि उसकी आध्यात्मिक चेतना, अन्तर्दृष्टि, दिव्य-दृष्टि ने देखा। अर्जुन के अन्दर चेतना का उद्‌भव हुआ। संजय ने भी देखा क्योंकि उसको वेदव्यास जी ने दिव्यदृष्टि दी थी।

देखा जाए तो गीता अन्धों की पाठ्य-पुस्तिका है क्योंकि उसमें दो अंधे थे। एक तो धृतराष्ट्र, जो जन्म से अंधा था और दूसरा अर्जुन, जो मोह में अंधा हो गया था। धृतराष्ट्र आँख से अन्धा था, इसलिये संजय ने उसे बताया। अर्जुन मोह के कारण अंधा हो गया था, उसे अपना कर्तव्य नहीं सूझ रहा था, तब उसे भगवान कृष्ण ने बताया।

स्वामीजी, क्या यह दिव्य-दृष्टि सामान्य व्यक्तियों को भी प्राप्त होती थी?

नहीं, दिव्य-दृष्टि भगवत्-कृपा, ईश्वर के संकल्प से प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। दिव्यदृष्टि गुरु के माध्यम से प्राप्त होती है, मगर उसके प्रदाता स्वयं भगवान हैं। इसलिये यदि किसी की दिव्य-दृष्टि हो, तो उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश का, राम का, देवी का, कृष्ण का, सबका अनुभव होगा, और जिसकी दिव्य-दृष्टि नहीं है, वह फिर इनको भावना की दृष्टि से देखता है।

हम लोग जो भगवान को, राम को, देवी को, हनुमान को मानते हैं, उसे दिव्य-दृष्टि के कारण नहीं मानते। वह हमारी भावनात्मक दृष्टि है, और उस भावनात्मक दृष्टि को भक्ति कहा जाता है। अपनी भावना से हमें दिखाई दे रहा है, हम भावना से उनको देख रहे हैं, इसका अर्थ हुआ कि भक्ति इसका आधार है। भक्ति की वजह से वे दिखते हैं। इसलिये इस युग में भक्ति आधार है। दिव्य-दृष्टि भगवान कभी नहीं देंगे क्योंकि तुम लोगों को दिव्य-दृष्टि के लिए फुर्सत कहाँ है, जिज्ञासा कहाँ है? इसलिये इस युग में भावनात्मक दृष्टि का ही अवसर है।

इस पर एक और प्रश्न उठता है कि जब मेघनाद को ब्रह्माजी का दर्शन हुआ, उनसे बात हुई, रावण ने भी इतनी तपस्या की, फिर भी वे राम

को क्यों नहीं पहचान पाए? उन्हें ब्रह्मा जी का दर्शन हुआ क्योंकि उनके पास दिव्य-दृष्टि थी, तो उस दिव्य-दृष्टि से राम को क्यों नहीं पहचाना?

नहीं, उन लोगों के पास दिव्य-दृष्टि नहीं थी। रावण के बारे में जो भी कहा जाता है, वह थोड़ा-सा धिक्कार की भाषा में कहा जाता है। रावण को इस रूप में नहीं देखा जाता कि वह एक विद्वान् था, उच्च कुल में पैदा हुआ था, एक महान् साम्राज्य का अधिनायक था, समस्त वेदों का ज्ञाता था, महान् तपस्वी था या शिव का परम भक्त था। आखिर उसमें दुर्गुण ही क्या थे? केवल एक ही दुर्गुण था, जो भी औरत उसको मिलती, उसे वह फँसा देता था। उसके समाज के लोग इसे दुर्गुण नहीं मानते थे। सीताजी को हरकर लाया, जिस समाज का वह अधिनायक था, उस समाज के लोग इसे खराब नहीं मानते थे। परन्तु उसकी राक्षस-जाति में यह नियम था कि अपहृता स्त्री इस अपहरण को स्वीकार करे तो ठीक है, अगर स्वीकार न करे तो यह गलत है। बस इस बात पर वह अपने समाज के आगे भी हार गया। विभीषण ने इसी पर आपत्ति की। यही माल्यवान् और कुम्भकरण ने भी कहा। और भी बहुतों ने उसे समझाया होगा, पर वह नहीं माना।

सवाल है कि इतना विद्वान् होते हुए भी, लोगों के इतना समझाने पर भी उसने राम को क्यों नहीं पहचाना?

नहीं, तुम यह नहीं कह सकते कि उसने राम को नहीं पहचाना। उसे तो मालूम था। इस बात को समझाने के लिए थोड़ा विस्तार से बोलेंगे। भगवान का अनुभव करने के लिये भावनाओं में तीव्रता का होना आवश्यक है। दूरबीन जितनी अच्छी होगी, उसका फोकस उतना ही अच्छा होगा। उसी प्रकार भावनाएँ बहुत तीव्र होनी चाहिये। अब तीव्र भावनाएँ कितनी होती हैं?

माँ की बच्चे के लिये तीव्र भावना होती है। सामान्यत: यदि किसी स्त्री का पति बदमाश, शराबी या जुआरी है, तो उसे वह छोड़ भी सकती है। उसे ज्यादा झंझट नहीं है, मगर यदि उसका लड़का जुआरी और शराबी है, तो भी छोड़ नहीं सकेगी। यह तीव्र भावना है। इसी तरह कामी व्यक्ति में स्त्री के प्रति भावनात्मक तीव्रता होती है। रामचरितमानस में लिखा भी है–

कामिहिं नारी पियारी जिमी, लोभहिं प्रिय जिमी दाम।
तिमी रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहूँ मोहि राम॥

तीसरी तीव्र भावना क्या है? वैर, भयंकर दुश्मनी। लोग गुस्से में आकर कहते हैं न, उसे मार डालेंगे, उसके सारे खानदान को नष्ट कर देंगे–यह मनुष्य का वैर भाव है। रावण ने सोचा कि भई, भक्ति-भाव तो अपने में है नहीं। क्यों नहीं है? हम राम को भगवान मानने को तैयार नहीं हैं। हमारी खोपड़ी में उतरता ही नहीं

कि भगवान माँ के पेट में कैसे उतरा! तो राम के प्रति भक्ति-भाव नहीं हो सकता। फिर कौन-सा भाव हो?

किसी भी तीव्र भाव के बिना भगवान के निकट पहुँच नहीं है। बिना टिकट के सिनेमा में नहीं घुस सकते, हवाई जहाज में भी नहीं घुस सकते। उसी तरह भगवान के पास जाने का टिकट है तीव्र भाव। तीव्र भाव में भक्ति भाव है या फिर वैर भाव। रावण ने चयन किया कि उसके लिये वैर भाव सरल है। जितने भी काण्ड हुए, खर, दूषण, ताड़का, सुबाहु जैसे इतने राक्षस मारे गए, तो उसके पास यह एक मुद्दा था। उसने कहा, 'हम बदला लेंगे।' इस तरह उसे वैर भाव हो गया।

अब वैर भाव के जितने भी नियम होते हैं, उनका पालन करना पड़ेगा। उस वक्त यह नहीं सोचना है कि राम भगवान विष्णु के अवतार हैं, परमपुरुष हैं, शुद्ध परात्पर ब्रह्म हैं। नहीं, राम एक वनवासी है, उसके पास एक सुन्दर औरत है, अब हम उसको लूटकर ले आयेंगे।

रावण ने जो कुछ किया उस भाव के अनुरूप किया। यह नहीं कि एक तरफ तुम्हें वैर की भावना हो, दूसरी तरफ 'श्री राम जय राम जय जय राम' कहो। वैर भाव माने वैर भाव, वह हमारा दुश्मन है। उसका कोई भी गुण, कोई भी अच्छाई हमें पसंद नहीं है। बाप ने घर से निकाल दिया, दर-दर भटकता है, श्रीराम के बारे में रावण यही तो बोलता था। जब वैर भाव है तो उसका पूरा नाटक तुम्हें करना पड़ेगा। तभी भावना में तीव्रता आएगी।

इसलिये उसने किसी की बात नहीं सुनी?

जब अन्दर भावना तीव्र होती है तब कोई किसी की बात नहीं सुनता। चाहे वात्सल्य भाव हो या माधुर्य भाव हो या कोई भी भाव, उस वक्त किसी की बात सुननी भी नहीं चाहिये। समझ गये न?

मगर मरते समय तो उसे कोई दिव्य अनुभव हुआ होगा?

यह तो हमारे कथाकार बोल देते हैं कि मरते समय उसने राम कहा। अब बोला कि नहीं बोला, कैसे कहें? एक उदाहरण से समझाते हैं। यह जो भँवरा होता है न, इस जाति में स्त्री-पुरुष नहीं होता। ये केवल एक लिंग के ही होते हैं। ये बच्चे कैसे पैदा करते हैं, तुम्हें मालूम है? यह मिट्टी लेकर घोंसला बना लेता है, फिर इसके बाद घास में जाता है। घास में से किसी भी छोटे, हरे कीड़े को अपने दाँत से पकड़कर उसमें डाल देता है। वह उसका बच्चा नहीं है, कोई भी कीड़ा है। तीन-चार कीड़े उसमें डाल देता है, फिर मिट्टी से दरवाजा बन्द कर देता है। मैं अगस्त-सितम्बर में यहाँ बैठकर देखता हूँ। वह बराबर आता है, दरवाजा खोलता है और अन्दर चला जाता है। अन्दर करीब पन्द्रह मिनट तक ऊँ-ऊँ-ऊँ करता रहता

है, फिर दरवाजा बन्द कर चला जाता है। कुछ दिन के बाद उस घोंसले से ततैया तैयार होकर निकलता है।

जीव जिस चीज का बार-बार स्मरण करेगा, हर बार जो उसके दिमाग में डाला जायेगा, वह वैसा ही हो जाता है। इसे हम लोग वेदांत में कीट-भ्रमर न्याय कहते हैं—जीवात्मा किस तरह परमात्मा का स्मरण करते-करते परमात्मा-स्वरूप हो जाता है। और इसका उदाहरण देते हैं जैसे भँवरे कीट के साथ करते हैं।

अब आते हैं तुम्हारे प्रश्न पर। जिस दिन से रावण सीता को हरकर लाया, उसकी सीता पर परम आसक्ति थी। मगर सीता ने स्वीकार नहीं किया, सारा जगत् जानता है। फिर जब रामजी समुद्र लाँघकर उस पार पहुँच गये, तब रावण का मन सीता से हटकर स्वत: राम पर आ गया। जब तक मन सीता पर केन्द्रित था तब तक वासना मूलक था, जब राम पर आया तो वह वासनामूलक नहीं रहा, वह हो गया भयमूलक। दिन-प्रतिदिन भय बढ़ता गया, रावण को चौबीस घण्टे राम के अलावा कुछ सूझता ही नहीं था। अब ऐसा आदमी जिसे राम के सिवा कुछ सूझे ही नहीं, वह तो राम ही हो जायेगा न?

जीवात्मा जब नित्य-निरन्तर परमात्मा के किसी स्वरूप का स्मरण करता है और परमात्मा के अलावा और किसी चीज का स्मरण नहीं करता, अपना भी जब विस्मरण हो जाता है, तब वह तद्रूप हो जाता है। तुम पत्थर को पानी में डालोगे तो पत्थर पत्थर ही रहेगा, मगर नमक को पानी में डालोगे तो वह पानी में घुल-मिल जायेगा। जैसे भौंरे के ऊँ-ऊँ-ऊँ से कीड़ा भौंरा बन जाता है, वैसे ही डर के मारे ईश्वर का निरंतर स्मरण करते-करते रावण जैसा व्यक्ति भी ईश्वर बन जाता है।

अब तुम भगवान को कैसे स्मरण करते हो, यह तुम पर निर्भर करता है। भगवान को तुम प्रेमी समझ कर, बेटा समझ कर, पति समझ कर, प्रभु समझ कर या दुश्मन समझ कर स्मरण करो। मीराबाई तो वही करती थी, कहानी तो तुम लोगों को मालूम है। मीराबाई को छोटी उम्र में जो मूर्ति मिली, उसने उसी को अपना पति मान लिया। अब उसका ही स्मरण करती रही। वह श्याम जी की मूर्ति थी, तो गिरिधर गोपाल ही उसके पति हो गये। मीरा के लिये उस मूर्ति का वही महत्त्व था, उसके प्रति वही भाव था जो हर स्त्री का अपने पति के लिये होता है। उसको कहते हैं तद्रूपता। यह तद्रूपता बहुत श्रेष्ठ वस्तु है। बनिया लोगों की दृष्टि चौबीस घण्टा पैसे पर रहती है। मोची हर एक के जूते को ही देखता रहता है। हर एक व्यक्ति की वासना कहीं पर टिकी रहती है। किसी की स्त्री में, किसी की धन में, किसी की कुत्ते में, किसी की माया में तो किसी की भगवान में तद्रूप रहती है।

दूसरी बात, तुम लोग भूल रहे हो कि राम और रावण दोनों फिल्म एक्टर थे। भगवान ने राम और रावण के लिए एक बहुत बड़ी स्क्रिप्ट बनायी। क्यों? भक्तों ने अपने मन में सोचा कि हम भगवान को पाना चाहते हैं, पर भगवान को

कहाँ पाएँ? उनका कोई पता, नाम, रूप, लम्बाई-चौड़ाई, ऊँचाई-नीचाई, काला-गोरा कोई वर्ण तो है नहीं। सुना है वे जन्म भी नहीं लेते, मरते भी नहीं हैं और इन आँखों से दिखाई भी नहीं देते। अरे भई, तो पाएँ किसको, खोजें किसको? न हमें तुम्हारा नाम मालूम, न तुम्हें कभी देखा, अब क्या करेंगे? तब भक्तों ने कहा कि भगवान, कुछ तो कृपा करो ताकि हम तुम्हें प्राप्त कर सकें। तब भगवान ने अवतार लिया।

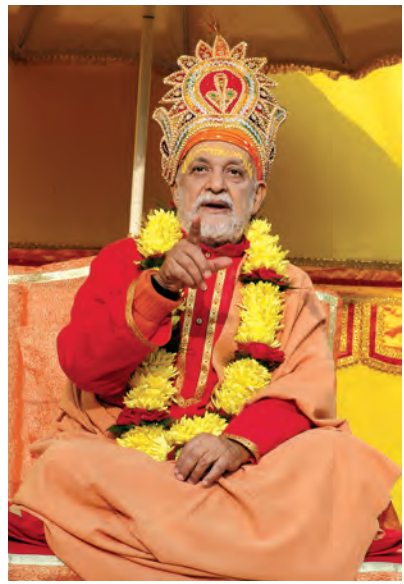

भगवान ने रावण को मारने के लिये नहीं, बल्कि भक्तों का आधार बनने के लिये अवतार लिया है। अगर भगवान का जन्म राम या कृष्ण के रूप में नहीं होता तो तुम आधा घण्टा आँख बन्द करके किसकी पूजा करते? उस निराकार ब्रह्म की? भगवान ने रावण को मारने के लिये साकार रूप में जन्म नहीं लिया। धर्म का उद्धार और अधर्म का नाश, यह तो उनके लिये एक बहाना था। असली प्रयोजन भक्त हैं, जिनके लिये भगवान साकार रूप में जन्म लेते हैं।

इस बात को अच्छी तरह से याद रख लो, अगर भगवान साकार रूप में जन्म नहीं लेते तो सब भक्त कम्बख्त रहते। *अहं ब्रह्मास्मि* बोलते-बोलते अपने को ही ब्रह्म समझते। दाल-रोटी खाने वाला, टट्टी-पेशाब करने वाला, दूसरों को मारने वाला, चोरी-डकैती करने वाला आदमी अपने को ब्रह्म कहता है! तुम ब्रह्म कैसे बन गये? ब्रह्म तो उस महान् शक्ति का नाम है जिसने सूर्य, चंद्र, तारे, यह सारा अजब-तमाशा बनाया। तुम अजब-तमाशा बनाओ, हम तुम्हें भी ब्रह्म मानेंगे।

भगवान ने जानबूझ कर जन्म लिया, लीला की है। राम ने रावण को मारा, यह उनकी लीला है। जैसे तुम लोग फिल्म बनाते हो तो क्यों बनाते हो? लोगों को बतलाने के लिये कि सच-झूठ, पाप-पुण्य क्या होता है। फिल्म में एक उदाहरण, एक आदर्श, एक संदेश होता है कि नहीं? जिस तरह से हर फिल्म के पीछे एक उद्देश्य रहता है, उसी तरह से पूरी रामायण में एक उद्देश्य है। राम और रावण का युद्ध तो एक किस्सा है, जिसे लीला कहते हैं। रामलीला एक कथा है, जिसमें रामजी थे, सीताजी थीं। रावण ने उन्हें हर लिया तो राम ने मार दिया। यह तो किस्सा-कहानी है, मगर असली चीज है कि रामजी ने पूरा जीवन कैसे बिताया, कैसे कपड़े पहने, उनके कैसे बाल थे, कैसी नाक थी, कैसी आँखें थीं, कितने

लम्बे थे, कैसा वर्ण था, कैसे बोलते थे, जब धनुष में बाण का संधान होता था तो उस समय उनकी आँखों का रंग क्या होता था। भक्त लोग इसे देख-देख कर ध्यान करते हैं और योग को प्राप्त करते हैं।

सूरदासजी अंधे थे। पहले उनकी दृष्टि बहुत बुरी थी, औरतों पर लगी रहती है। तंग आकर उन्होंने अपनी आँखें फोड़ दीं। उन्होंने कहा, 'न रहेगी आँख, न औरतों की आयेगी याद।' अंधा होने पर भी सूरदासजी को भगवान श्रीकृष्ण की सारी लीलाएँ फिल्म की तरह दिखाई देती थीं। जैसे टी.वी. में तुम लोग देखते हो, यशोदा श्रीकृष्ण को पालने में झुला रही है या वे जंगल में गाय चराने जा रहे हैं या पूतना को मार रहे हैं, वैसा उन्हें सब दिखाई देता था। अगर भगवान श्रीकृष्ण यह लीला नहीं करते तो सूरदास को यह दिखाई कैसे देता? और यह सूरदास को ही नहीं, आज हमलोगों को भी दिखाई देता है। जब भी तुम उन गीतों को पढ़ते या गाते हो तो तुम्हारे सामने वह तस्वीर आ जाती है न? साफ न आए, मगर आती तो है।

अगर भगवान कृष्ण पैदा नहीं होते और यह लीला नहीं करते तो सूरदास क्या गाते? तू अजर है, अमर है, अविनाशी है, अनन्त है, अछेद्य है, अभेद्य है? सबमें 'अ' लगा दो, भगवान का नाम हो गया। ईश्वर निराकार है, यह पक्की बात है, उसमें खण्डन नहीं करते, मगर वह निराकार ईश्वर हमारी पहुँच के बाहर है। वह निराकार ईश्वर हमें देखना चाहे तो देख सकता है, मगर हम उसे कभी देख सकेंगे, यह हम मानने के लिये तैयार नहीं। असंभव है। तर्क के अनुसार असंभव और वास्तविक रूप से भी असंभव है। सोचो, एक चींटी चन्द्रमा को चूमने चली है, असंभव है न?

इसलिये भगवान के बारे में जो तुम कह रहे हो, 'यह राम-रावण की लड़ाई है, उसमें ऐसा हुआ, वैसा हुआ', यह सब अच्छा है, सुनना चाहिये, सुनाना चाहिये, मगर साथ ही यह बात ध्यान में रखो कि भगवान का जन्म हमलोगों के लिये हुआ, ताकि हमें जो लीला पसंद आए उस पर ध्यान कर सकें। तुम्हें रामजी धनुष चढ़ाए अच्छे लगते हैं उस पर ध्यान करो। तुम्हें रामजी सीताजी को बायें तरफ रखकर खड़े अच्छे लगते हैं तो उस पर ध्यान करो। तुम्हें रामजी हनुमानजी की पीठ पर बैठे अच्छे लगते हैं तो उस पर ध्यान करो। तुम्हें रामजी पूरे दरबार में बैठे अच्छे लगते हैं तो उसका ध्यान करो। तुम्हें रामजी राजवेश में अच्छे लगते हैं, तो ठीक है, उसका ध्यान करो। यदि तुम्हें रामजी तपस्वी वेश में अच्छे लगते हैं, जो वन-वन भटक रहे हैं, तो उसका ध्यान करो। रामजी केवट से पैर धुला रहे हैं, यह छवि अच्छी लगती है तो उस पर ध्यान करो। भगवान ने भक्तों को अपना स्वरूप दिखलाकर उनकी माया को हरने के लिये अवतार लिया, ताकि उनकी लीला का चिन्तन करते-करते तुम्हारा मनवा ठिकाने आ जाए। असली चीज तो मनवा को ठिकाने लाने की है। यह मनवा निराकार से ठिकाने लगने वाला नहीं, यह पक्की बात है।

–20 नवम्बर 1997, रिखियापीठ

गीता की योग शिक्षा का सार

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

गीता की शिक्षा युद्धभूमि में आरम्भ होती है और युद्धभूमि में ही समाप्त होती है। गीता के पहले अध्याय में अर्जुन की अवस्था का वर्णन आता है कि किस प्रकार से उसका शरीर काँप रहा था, शक्तिहीन हो रहा था। वह अपने आयुधों को भी हाथों में नहीं पकड़ पा रहा था, आँखों के सामने अंधेरा छा गया था। शरीर से पसीना छूट रहा था, मति भ्रमित हो गई थी। अपने बंधु-बांधवों को सामने युद्ध के लिए तैयार देख वह शोकग्रस्त हो गया था।

अर्जुन तो एक श्रेष्ठ योद्धा था। उसने अपने जीवन में अनेकों बार रणभूमि में रथियों-महारथियों को परास्त किया था। पहले तो वह कभी शोकग्रस्त नहीं हुआ, फिर यहीं पर क्यों हुआ? इसका कारण स्पष्ट है। पहले जिन लोगों से अर्जुन ने युद्ध किया था, वे उसके स्वजन नहीं, अज्ञात लोग थे। उनके साथ अर्जुन का कोई भावनात्मक सम्बन्ध नहीं था। लेकिन जब अर्जुन युद्धक्षेत्र में अपने ही लोगों को युद्ध के लिए तैनात खड़ा देखता है, तब उसका मन शोकग्रस्त हो जाता है।

आसक्ति और राग

श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि तुम्हें जो शोक और विषाद हो रहा है, उसका कारण कुछ और नहीं, तुम्हारी आसक्ति ही है। अगर तुममें यह आसक्ति नहीं होती, तो तुम निश्चित रूप से युद्ध करते। जब तुमने अन्य योद्धाओं के साथ लड़ाई की थी,

तब तुम्हारा कोई सम्बन्ध, कोई आसक्ति नहीं थी। तुम निश्चिंत होकर उनके साथ लड़े। पर यहाँ पर अपने स्वजनों से जो मोह और आसक्ति है, उसके कारण तुम कंपित हो रहे हो, भयभीत हो रहे हो और युद्ध न करने की इच्छा प्रकट कर रहे हो।

फिर भगवान अर्जुन को बताते हैं कि आसक्ति की उत्पत्ति राग से होती है। विषय के प्रति आकर्षण ही राग है। उस आकर्षण का एक ही प्रयोजन है, मैं किसी प्रकार से सुख को प्राप्त करूँ। मनुष्य मनोरंजन के पीछे क्यों भागता है? सिनेमा क्यों जाता है? टेलीविजन के सामने घण्टों आँखें फाड़े क्यों बैठा रहता है? पार्टी वगैरह क्यों जाता है? क्योंकि उसके मन में एक अपेक्षा रहती है कि यह सब करने से मेरे मन को सुख-संतोष मिलेगा।

सुख के लिए विषयों के पीछे भागना ही राग है, जिससे आसक्ति की उत्पत्ति होती है। राग और आसक्ति दोनों मिलकर भय और क्रोध को जन्म देते हैं। जब मन में राग और आसक्ति का वास होगा, तब तुम किसी भी क्षण, किसी भी कारण से भयभीत हो सकते हो। जीवन में किसी प्रकार के अभाव से, असुरक्षा की भावना से तुम घबरा सकते हो, विचलित हो सकते हो, व्यथित हो सकते हो। कामना के पूर्ण न होने पर हो सकता है तुम उत्तेजित और क्रोधित भी हो जाओ।

गीता में कृष्ण जी ने अर्जुन की समस्या के समाधान के लिए कुछ विशेष बिन्दुओं को ही सामने रखा है और इन्हीं बिन्दुओं को अलग-अलग तरीके से समझाया है। इनमें मूल बिन्दु यही है कि अगर जीवन में कभी दु:ख, शोक, अशान्ति, विषाद या मोह होता है, तो उनके पीछे आसक्ति, राग, भय और आक्रोश के अलावा और कोई कारण नहीं। आसक्ति, राग, भय और आक्रोश मन को प्रभावित करते हैं। एक बार मन प्रभावित हो जाए तो अवसाद की स्थिति में चला जाएगा, जिससे किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति आएगी। क्या करूँ, क्या नहीं करूँ? बुद्धि भ्रमित हो जाएगी, मन विचलित हो जाएगा। अर्जुन का यही हाल हुआ था।

जब अर्जुन के मन में अवसाद की स्थिति आ गई, तब उसका असर शरीर पर भी पड़ा, जिसके कारण उसने स्नायविक दुर्बलता का अनुभव किया। स्नायविक दुर्बलता के कारण कर्म करने की इच्छा समाप्त हो गई। 'मैं युद्ध नहीं करूँगा, मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा, मेरा शरीर कमजोर हो रहा है, मेरे हाथ से धनुष गिर रहा है, मैं अपने अस्त्रों को नहीं पकड़ पा रहा हूँ'—ये स्नायविक दुर्बलता के लक्षण हैं।

अर्जुन को ठीक करने के लिए भगवान को दो उपाय सोचने पड़ते हैं। पहला, किस प्रकार उसकी इन्द्रियों को सक्रिय किया जाए ताकि उसकी स्नायविक और शारीरिक दुर्बलता दूर हो जाए और दूसरा, किस प्रकार उसके मन को संतुलित किया जाए ताकि वह पुन: अपने धर्म और कर्त्तव्य को जानकर उसका पालन कर सके। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन के अलग-अलग प्रश्नों का समाधान करते हुए इन्हीं विचारों को स्पष्ट करते हैं।

शारीरिक सक्रियता के लिए कर्मों में प्रवृत्ति

शारीरिक इन्द्रियों को सक्रिय करने के लिए दो चीजों की आवश्यकता होती है, एक कर्म और दूसरा अभ्यास। अगर ये नहीं करोगे, तो शरीर की स्थिति बिगड़ेगी, शरीर अस्वस्थता को प्राप्त करेगा। एक सप्ताह स्वयं को कमरे में बंद करके बैठ जाओ। जब एक सप्ताह के बाद बाहर निकलोगे, तब चलने में कठिनाई होगी, क्योंकि चलने का अभ्यास नहीं रहा। अगर चार दिन तक आदमी बिस्तर पकड़ लेता है, तो पाँचवे दिन खड़े होने में दिक्कत होती है, चक्कर आता है, पैर लड़खड़ा जाते हैं। अगर पन्द्रह दिन के लिए कोई अस्पताल में रह जाए, तो उसे सहारा देकर चलाना पड़ता है। इसलिये शरीर का सक्रिय रहना, कर्मों में रत रहना अत्यन्त आवश्यक है।

इसलिए कृष्ण जी अर्जुन को दूसरे अध्याय से बार-बार कहना आरम्भ करते हैं कि कर्म करते जाओ, कर्म मत छोड़ो। दूसरे अध्याय से नवें अध्याय तक श्रीकृष्ण अर्जुन को कुछ-न-कुछ बात समझाकर बार-बार प्रेरणा देते हैं कि 'अब तुम कर्म करो, अपना कर्त्तव्य निभाओ, अपने धर्म का पालन करो। तुम युद्धभूमि में युद्ध करने आए हो। यहाँ आकर कैसे कह सकते हो कि मैं लड़ाई नहीं करूँगा।' डॉक्टर अस्पताल जाकर कहे कि मैं उपचार नहीं करूँगा, यह कैसे सम्भव है? तुम जिस भी परिस्थिति में हो, उसमें जो भी कर्त्तव्य है, उसे धर्म और न्याय से जोड़कर करते जाओ।

अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा देते हुए भगवान बतलाते हैं कि जब मनुष्य कर्म करता है, तब उस कर्म से एक अपेक्षा जुड़ी रहती है। मनुष्य कर्म-फल की खोज करता है। उसका ध्यान कर्म से हटकर फल में टिक जाता है। इसलिए कर्म सिद्ध नहीं होता। अगर फल नहीं मिलता तो शोक और अगर फल मिलता है, तो कुछ क्षणों के लिए हर्ष होता है। उसके बाद फिर से वही संघर्ष शुरू हो जाता है। इसलिए कर्म को करते रहो, लेकिन कर्म से कोई अपेक्षा मत रखो, किसी परिणाम को मत खोजो।

जब कर्म से हमें कोई आशा नहीं रखनी है, कोई परिणाम नहीं खोजना है, तब कैसे कर्म किया जाए? भगवान कहते हैं कि पूरे मनोयोग से कर्म करो। उसे तुम जितना सृजनात्मक और रचनात्मक बना सकते हो, उतना बनाओ। तुम्हारे द्वारा इस प्रकार किए गए अपेक्षारहित और आसक्तिरहित

रचनात्मक कर्म तुम्हें संसार के बंधन से मुक्त करेंगे। अगर तुम कर्मों को स्वार्थपूर्ति के प्रयोजन से ही करते रहोगे तो कर्म तुम्हें बंधन में अवश्य डालेंगे।

इस प्रकार भगवान अर्जुन को आसक्तिरहित होकर कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, ताकि वह कर्मों में प्रवृत्त होकर शारीरिक और स्नायविक दुर्बलता से उबर सके।

मन का प्रबन्धन

अब बात आती है मन की, जो शोक और विषाद में पड़ा हुआ है। विषाद को दूर करने के लिए तुम्हारे मन में जो उथल-पुथल, जो चंचलता हो रही है, उसे शान्त करने का प्रयास करो। अपने मन को स्थिर बनाने का प्रयास करो। मन में जो इच्छा या कामना उत्पन्न हो रही है, उसे देखो। जो चीज अनिवार्य है उसे पाने का प्रयास करो। जो अनिवार्य नहीं है, मात्र एक महत्त्वाकांक्षा है, उसका त्याग करते जाओ। इस प्रकार अपनी कामनाओं को कम करो।

राग, भय और क्रोध को शान्त करने के लिए भगवान अर्जुन को योग की प्रत्याहार साधना की शिक्षा देते हैं। महर्षि पतंजलि ने अपनी योग चर्चा में राजयोग के जिन आठ अंगों के बारे में बतलाया है, उनमें प्रत्याहार पाँचवा अंग है। मन को राग, भय और आक्रोश के कुप्रभावों से मुक्त करने के लिए श्रीकृष्ण अर्जुन को इस योगांग की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि प्रत्याहार के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों को विषयों से समेट लेने से इन्द्रियाँ तुम्हें व्यथित नहीं करेंगी।

योगदर्शन में भी प्रत्याहार का यही प्रयोजन है कि जब मन चंचल होता है, तब उसको शान्त और स्थिर करने के लिए कुछ समय के लिए समेट लो। शान्ति और स्थिरता प्राप्त करके पुनः संसार में संलग्न हो जाओ। प्रत्याहार में शरीर और इन्द्रियों की स्थिरता पर जोर देते हुए कहा जाता है कि चाहे पाँच मिनट के लिए बैठो या आधे घण्टे के लिए, लेकिन स्थिर बैठो। शरीर में हलचल नहीं होनी चाहिए। अगर तुम्हारा शरीर स्थिर हो जाता है, तो इन्द्रियाँ भी स्थिर हो जाएँगी। इन्द्रियों के स्थिर होने से मस्तिष्क और मन का व्यापार भी शान्त हो जाएगा, जिसके कारण भय और आक्रोश समाप्त हो जाएगा। इसलिए प्रत्याहार की साधना करो और यह साधना करते हुए कर्मयोग भी करते जाओ। शरीर और इन्द्रियों को भी संभालो तथा मन और मानसिक अवस्था को भी संभाल कर चलो। मतलब कर्मयोग में संलग्नता और प्रत्याहार का अभ्यास, दोनों काम एक साथ करो।

कर्मयोग का मतलब है, कर्म को कर्त्तव्य रूप में करना। कर्म से आसक्ति हटाकर, विषयों से अनासक्त रहकर, इन्द्रियों को अपने वश में करके उनकी प्रतिभाओं का उपयोग करते हुए जो व्यक्ति कर्म करता है, कर्मयोगी कहलाता है। ऐसा व्यक्ति संतापरहित और ममतारहित हो जाता है, हर आशा से मुक्त हो जाता है।

अभ्यास और वैराग्य

इस मोड़ पर अर्जुन कहता है, 'भगवान! यह सब करने का प्रयास तो जरूर करूँगा, लेकिन चंचल मन को संभालना बड़ा मुश्किल है।' श्रीकृष्ण कहते हैं–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥6.35॥

'हाँ अर्जुन! तुम बात तो ठीक कह रहे हो, लेकिन मन की इस चंचलता को दो तरीकों से संभाला जा सकता है। एक है अभ्यास और दूसरा है वैराग्य।' जब भगवान अभ्यास शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उनका आशय है कि अभ्यास द्वारा तुम इन्द्रियों को अपने काबू में रखोगे और कर्मों में रत रहोगे। और वैराग्य से उनका आशय है कि वैराग्य द्वारा संसार के प्रति आकर्षण और प्रवृत्ति को संभाल सकते हो। वैराग्य राग का उल्टा होता है। वैराग्य का तात्पर्य त्याग से नहीं, जीवन में राग के अभाव से है। जब जीवन की भाग-दौड़ बंद हो जाती है और आन्तरिक स्थिरता आती है, तब वैराग्य अपने आप उत्पन्न होता है।

यह बात हम सब अपने जीवन में देख सकते हैं। जब हम लोग छोटे थे, तब छोटी-से-छोटी चीज को देखकर उसे पाने के लिए लालायित रहते थे। किसी भी खिलौने को देखकर उसे पाने के लिए मचलते थे। जो भी सुन्दर चीज दिखलाई देती थी, उसकी ओर आकर्षित हो जाते थे। लेकिन एक समय आता है, जब इन सब चीजों को देखकर मन तृप्त हो जाता है। मन कहता है कि ये मेरे लिए आवश्यक नहीं हैं। बचपन में जिस वस्तु से हमें राग था, बड़े होने पर वह आकर्षण और राग कम हो गया, समाप्त हो गया। दूसरे विषयों ने हमारे मन पर स्वयं को आरोपित कर लिया।

इसलिए भगवान कहते हैं कि अपने रागों को देखो, उनका विश्लेषण करो, उनको समझो। किस राग से तुम्हें किस प्रकार की अपेक्षा है? एक बार तुम अपने राग को समझ लोगे, उसके कारण को समझ जाओगे, तब वैराग्य निश्चित रूप से हो जाएगा।

अभ्यास के सन्दर्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन को प्राणायाम के बारे में बतलाते हुए कहते हैं कि भावों के आवेश को संभालने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करो। अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य पर केंद्रित करो। शरीर को स्थिर बनाओ। नासिका के भीतर जो वायु चल रही है, उसे सम करने का प्रयास करो। यहाँ पर प्राणायाम के सिद्धान्तों की संक्षेप में चर्चा की गई है। मन को संभालने के लिए अभ्यास के रूप में भगवान ने प्रत्याहार और प्राणायाम की ओर संकेत किया है।

धारणा और ध्यान

छठे अध्याय में भगवान मंत्र साधना के बारे में बतलाते हैं। वे कहते हैं कि स्थिर बैठकर, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके अर्थात् ईश्वर का चिंतन करते हुए, अपनी दृष्टि

को नासिकाग्र पर केंद्रित करके ईश्वर का स्मरण करो। ईश्वर का स्मरण मात्र दो तरीके से होता है। या तो उनका नाम लो या फिर उनके रूप का ख्याल करो।

नाम पहले आता है, क्योंकि मंत्र जप सबसे सरल उपाय है। उल्टा नाम लेकर भी वाल्मीकि तर गए। राम नहीं बोल पाए, पर मरा-मरा कहते-कहते रत्नाकर से वाल्मीकि बन गये। जीवन में पशुत्व को समाप्त करके संतत्व को लाने के लिए नाम-स्मरण और मंत्र जप बहुत प्रभावी विधि है। दूसरी विधि है ईश्वर के स्वरूप का चिंतन। छठे अध्याय में मंत्र और रूप साधना के बारे में भगवान अर्जुन को निर्देश देते हैं कि एक सुखद आसन में बैठकर, अपने शरीर, गर्दन और सिर को सीधा रखकर, अपने ध्यान को नासिकाग्र बिन्दु पर केंद्रित करके ईश्वर का स्मरण करो, मंत्र का जप करो।

इसके बाद श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित चौथा अभ्यास एक उच्च वैदिक साधना है—प्रणव ध्यान साधना, अर्थात् ॐकार पर ध्यान। भगवान कहते हैं कि इस साधना को करने के लिए शान्तिपूर्वक बैठ जाओ और ॐ में अपने चित्त को लगा दो। इन्द्रियों और मन को स्थिर बनाकर ॐ मंत्र का जप करो। ऐसा करते-करते अगर तुम्हारी मृत्यु भी हो जाती है, तो तुम परमगति को प्राप्त करोगे। प्रणवाक्षर एक ऐसा सिद्ध मंत्र है, जिसे अगर सही तरीके से किया जाए, अर्थात् इन्द्रियों के सभी दरवाजों को बंद कर, मन को स्थिर बनाकर किया जाए, तो इस मंत्र में तुम्हें परमात्मा से मिलाने की क्षमता है। यह कृष्ण जी का वचन है, जो हम लोगों के लिए अमूल्य आश्वासन है।

इस प्रकार सम्पूर्ण गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यम-नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के बारे में बतलाते हुए कहा है कि यही अभ्यास तुम्हारी समस्या का समाधान हैं, इनको करो।

ईश्वर का दिव्य स्वरूप

श्रीकृष्ण के उपदेशों से नवें अध्याय तक अर्जुन का उपचार हो जाता है। वह कहता है, 'मेरा मस्तिष्क अब धीरे-धीरे साफ हो रहा है, लेकिन कुछ प्रश्न शेष हैं, उनका उत्तर दीजिए। आप कहते हैं कि आप ही सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त हैं, आप

यह भी कहते हैं कि मुझमें चित्त को लगा दो। आप निराकार हैं या साकार? यह बतलाइये कि आप वास्तव में कौन हैं?'

तब दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी दिव्य विभूतियों के बारे में बतलाते हैं। विभूतियों की जानकारी मिलने के बाद अर्जुन कहता है कि मुझे अपना व्यापक विश्वरूप दिखलाइये। फिर ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को विश्वरूप दर्शन होता है, जिसमें वह देखता है कि भगवान हर एक वस्तु में व्याप्त हैं। वह प्रश्न करता है, 'भगवन्, कोई भक्त आपके निराकार रूप को भजता है और कोई साकार रूप को। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?'

भक्तों के लक्षण

बारहवें अध्याय में भगवान अर्जुन को सच्चे भक्त के लक्षण बतलाते हुए कहते हैं, 'अर्जुन! दोनों तरह के उपासकों में न कोई निम्न है और न ही कोई उच्च। दोनों की अपनी पद्धति है। लेकिन मुझे जो भक्त प्रिय है, उसके लक्षण तुम्हें बतलाता हूँ।'

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥12.13॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥12.14॥

'जो सब प्राणियों में द्वेषभाव से रहित, सबका हितैषी, दयालु, ममता और अहंकार से रहित, सुख-दुःख में समभावी, क्षमाशील, सन्तुष्ट, निरंतर योगयुक्त और संयमी है, तथा जिसका मन और बुद्धि मुझमें पूर्णतया समर्पित है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।' इस प्रकार बारहवें अध्याय के अंतिम आठ श्लोकों में, जिन्हें अमृताष्टक भी कहा जाता है, भगवान एक श्रेष्ठ भक्त, एक श्रेष्ठ साधक के गुणों का पूरा विवरण देते हैं।

भगवान बार-बार कहते हैं कि इन उत्तम गुणों से युक्त व्यक्ति ही मुझे प्रिय है। और जिसमें ये गुण नहीं हैं, वह मुझे मान्य तो है, लेकिन प्रिय नहीं है। जैसे माता-पिता को गुणी संतान ज्यादा प्रिय होती है, वैसे ही भगवान को भी गुणी भक्त ज्यादा प्रिय हैं। यदि हम भगवान के प्रिय बनना चाहते हैं तो हमें एक आदर्श भक्त के आचरण और चरित्र को अपने जीवन में उतारना होगा।

पन्द्रहवें अध्याय में भगवान पुरुषोत्तम योग की चर्चा करते हैं। सोलहवें अध्याय में वे दैवी और आसुरी प्रकृतियों का अंतर समझाते हैं। सत्रहवें अध्याय में वे ॐ के बारे में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण श्लोक कहते हैं–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणास्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥17.23॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ॐ ब्रह्म का ही एक नाम है। उसी प्रकार से तत् और सत् भी परमात्मा के नाम हैं। जो व्यक्ति शास्त्र-विधि से कर्म करता है, तप करता है, नियत यज्ञ और दान करता है, उसकी सभी क्रियाएँ ॐ के उच्चारण से ही आरम्भ होती हैं। मतलब परमात्मा का नाम लेकर ही कर्मों को आरम्भ किया जाए, और परमात्मा का नाम लेकर ही कर्मों को समापन की ओर ले जाना चाहिए। तभी तुम अपने कर्म को ईश्वर को अर्पित कर पाओगे।

मोह का अन्त

इतना सब बतलाकर श्रीकृष्ण का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अठारहवें अध्याय में अर्जुन स्वीकार करता है–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥18.73॥

'आपकी कृपा से मेरा मोह, आसक्ति तथा भ्रम समाप्त हो गया है, और मैंने स्मृति को प्राप्त कर लिया है। मैं जान गया हूँ कि मुझे कौन-सा कर्त्तव्य निभाना है,

कौन-सा धर्म और न्यायसंगत कर्म करना है। मैं संशय रहित हो गया हूँ। अब मैं तैयार हूँ, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।'

गीता के आरम्भ में धृतराष्ट्र ने संजय से एक प्रश्न किया था–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवश्चैव किमकुर्वत संजयः॥1.1॥

'संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा को लेकर मेरे पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों के बीच क्या हुआ?' यह गीता का पहला श्लोक है और संजय इसका उत्तर गीता के अन्तिम श्लोक में धृतराष्ट्र को देते हैं। संजय कहते हैं–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥18.78॥

'हे राजन्! आप क्यों पूछ रहे हो कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में आपके और पाण्डु पुत्रों के बीच में क्या हो रहा है? क्या आपको यह समझ में नहीं आता कि जहाँ पर योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ पर धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं पर श्री है, विजय है, विभूति है और अटल नीति है। ऐसा मेरा मत है।' और यही गीता की कालजयी शिक्षा है।

श्रद्धा

एक व्यापारी का व्यापार बहुत विकसित हो रहा था। एक बार वह कहीं गया हुआ था कि अचानक उसके यहाँ आग लग गई। उसका घर, दुकान, लाखों की सम्पत्ति, उसके पास जो कुछ था, सब जलकर राख हो गया। वापस पहुँचकर उसने यह सब दुर्गति देखी।

उसने क्या किया? वह वहीं शांत खड़ा हो गया। उसके चेहरे पर हल्की मुस्कान थी। ऊपर आकाश की ओर पलकें उठाकर बोला, 'हे प्रभो! अब आप मुझसे क्या करवाना चाहते हैं?'

कुछ देर बाद जली हुई दुकान के मलवे पर उसने बोर्ड लगा दिया–

दुकान जल गई,
घर जल गया,
सामान जल गया,
पर श्रद्धा नहीं जली!
कल से व्यापार फिर शुरू!

कल्पतरु की छाँव में

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

जीवन में दीक्षा की क्या भूमिका है?

दीक्षा का अर्थ होता है एक नयी दृष्टि को अपनाना और वह नयी दृष्टि है आध्यात्मिक दृष्टि जो हमेशा मनुष्य के उत्थान, सुख, शान्ति और तरक्की का मार्ग खोजती है, अहित, कष्ट या दु:ख का मार्ग नहीं। जो नये दृष्टिकोण को धारण करता है वही दीक्षित कहलाता है।

इस दृष्टि को अपनाने के लिये अपने दिमाग को हर रात खाली करके सोना। दिमाग में दिनभर का जो तनाव, परेशानी, आक्रोश, व्यथा, दु:ख और चिन्ता है, उससे कैसे अपने आपको मुक्त करोगे? सोने से पहले चुपचाप बैठकर दो माला मंत्र का जप कर लेना। जब ध्यान लगा रहे हो, जप कर रहे हो तब दस मिनट के लिये मन में भाव होना चाहिये कि मैं शरीर नहीं हूँ और न ही शरीर से जुड़ा कोई अनुभव हूँ; मैं मन नहीं हूँ, न मन का कोई सुखद या दु:खद अनुभव हूँ। मैं मात्र चैतन्य ज्योति हूँ और ज्योति का ध्यान करते हुए मंत्र जप करो। मंत्र का जप न तो बहुत तेज करना है, न बहुत धीरे। दो माला मंत्र का जप करने के बाद सो जाओ।

अगर ऐसे करने की आदत हो जाती है तो पाओगे कि तुम रोज रात को तनाव और परेशानी से अपने आप को मुक्त कर सकते हो। एक बार जब मन तनाव और परेशानी से मुक्त हो जाता है तब आंतरिक प्रतिभा का विकास होता है। जिन्होंने मंत्र दीक्षा ली है, वे प्रतिदिन दो माला अपने मंत्र का जप करें और सोने के पूर्व सिर से

अपने बोझ को निकालकर शान्त मन से सो जाएँ। जो शान्त मन से सो सकता है, उसे हम योगी मानते हैं। और जो अशान्त मन से सोते हैं वे तो हमेशा रोगी रहते हैं।

– 18 मई 2015, गंगा दर्शन

किसी को गुरु बनाने के लिये क्या दीक्षा लेना आवश्यक है? क्या मन से ही उनको गुरु नहीं मान सकते?

हमारी संस्कृति में अनेक उदाहरण हैं जो दर्शाते हैं कि गुरु एक आन्तरिक सम्बन्ध है। शारीरिक गुरु तो मात्र प्रेरणा, सत्संग और शिक्षा का एक माध्यम होता है। प्रेरणा, सत्संग और शिक्षा, इन तीनों का प्रयोजन होता है कि हम अध्यात्म मार्ग पर चलकर अपने भीतर उस गुरु तत्त्व को पहचानें और जागृत करें। दीक्षा एक विधि है, लेकिन सम्बन्ध बिना दीक्षा के भी स्थापित होते हैं। द्रोणाचार्य और एकलव्य की कहानी सब जानते हैं। एकलव्य को द्रोणाचार्य ने कह दिया था कि मैं तुम्हें न शिक्षा दूँगा, न दीक्षा। गुरु ने शिष्य रूप में नहीं स्वीकारा, पर चेले ने तो स्वीकारा। मूर्ति बना दी, प्रणाम किया और अपना कार्यक्रम आरम्भ किया।

मैं यह दृष्टांत इसलिए दे रहा हूँ कि यहाँ पर गुरु-शिष्य का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। द्रोणाचार्य को तो मालूम भी नहीं कि कोई उनकी पूजा कर रहा है और उनकी मूर्ति बनाकर धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहा है। एकलव्य उन्हीं को *'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु: गुरुर्देवो महेश्वर:, गुरु: साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नम:'* कहते हुए पुष्पार्पण करता था, प्रणाम करता था। इस तरह उसने गुरु तत्त्व के साथ श्रद्धा के पुल का निर्माण किया और जब उस गुरु तत्त्व के साथ श्रद्धा का सम्बन्ध जुड़ गया तो एकलव्य धनुर्विद्या में प्रवीण बन गया। जब उससे पूछा गया कि तुम्हारे गुरु कौन हैं और उसने कहा 'द्रोणाचार्य' तो वे आश्चर्यचकित रह गए।

इस दृष्टांत से एक बहुत बड़ी चीज स्पष्ट होती है, शिष्य की भावना महत्त्वपूर्ण है। अगर शिष्य में भावना नहीं तो गुरु के साथ रहकर भी उसका बेड़ा पार नहीं हो सकता। लेकिन अगर शिष्य मनमुखी नहीं, गुरुमुखी है, तो फिर उसका अवश्य ही कल्याण होता है। कौरव गुरुमुखी नहीं थे, भले ही उनके गुरु थे और वे उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। वे मनमुखी थे, 'जो हम चाहें गुरुजी उस चीज को पूरा करें।' गुरु उनके शिक्षक नहीं, बल्कि उनके नौकर थे। हमें यह सीखना है आप सिखाइये। तब फिर उस व्यक्ति में गुरुपन कहाँ जो चेलों के इच्छानुसार उन्हें सिखलाये। लेकिन एकलव्य ने अपनी भावना और श्रद्धा के बल पर अपने भीतर उस गुरु तत्त्व को जागृत किया और धनुर्विद्या में प्रवीण बना।

इसलिये हमारे यहाँ सम्बन्धों पर जोर दिया गया है। शिष्य उसे कहते हैं जो मनमुखी न होकर गुरुमुखी बने। इसका एक और उदाहरण गीता में आता है। पहले अध्याय में अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्नों की झड़ी लगा देता है। वह धर्म-अधर्म, नीति-

अनीति पर प्रश्न पूछते रहता है, लेकिन कृष्ण जी अपना मुँह नहीं खोलते। मुँह तब खोलते हैं जब अर्जुन कहता है– *शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।* मतलब अब मैं आपका शिष्य हूँ और आपके कहे अनुसार चलूँगा। अब वह गुरुमुखी हो गया। इससे पहले वह मनमुखी था। लड़ाई क्यों करूँ, इसमें मेरा कौन-सा कर्तव्य है, ये सब लोग मर जायेंगे, वर्णसंकरता आयेगी, यह होगा, वह होगा, मैं लड़ाई नहीं करूँगा। यह सब कहकर जब अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, जब उसकी समझ में कुछ नहीं आता है, तब वह कहता है *शिष्यस्तेऽहं।*

असली बात यही है कि मनुष्य को अपना भाव निर्मल रखना चाहिये। जो व्यक्ति अपने भाव को निर्मल रख पाता है, वही अपने भीतर गुरु तत्त्व को जागृत कर पाता है। जो उस भाव को सुरक्षित नहीं रख पाता है वह बहकता है। कभी अपने अहंकार से बहकता है, कभी अपनी वासना से बहकता है, कभी अपनी महत्त्वाकांक्षा में बहक जाता है, लेकिन बहकाव उसके जीवन में निश्चित रूप से आता है।

–31 मई 2015, गंगा दर्शन

यदि व्यक्ति का झुकाव अध्यात्म की ओर हो, लेकिन माता-पिता से इस दिशा में सहायता न मिले तो किसे प्रधानता दें, माता-पिता को या आध्यात्मिक मार्ग को? आखिर जन्मदाता को दुःखी करना भी उचित नहीं। इस द्वंद्व की स्थिति से कैसे मार्ग निकालें?

यह निर्णय मन से नहीं होता है। जो तुम बोल रहे हो, वह मन का निर्णय है। दुःखी करें या नहीं करें, हमें ऐसा करना चाहिए या वैसा, जो मन से इस तरह सोचता है, वह कभी निर्णय नहीं ले पाता। जीवन का जो निर्णय होता है, वह मन का नहीं होता बल्कि संस्कार के वश होता है। आदि शंकराचार्य ने अपना घर छोड़ा, संस्कार के कारण। माँ की परवाह नहीं की उन्होंने। उन्होंने केवल यह वचन दिया कि तुम्हारे अंतिम समय में आऊँगा। यह नहीं कहा कि मैं यहाँ पर रहकर आजीवन तुम्हारी सेवा करूँगा और तुम्हारे मरने के बाद संन्यास लूँगा। वे तुम जैसे नहीं थे, अगर तुम होते तो फिर शंकराचार्य कभी नहीं हो पाते।

यह सब संस्कार के कारण होता है। जब संस्कार प्रबल है तो माता-पिता कोई सानी नहीं क्योंकि सबका अपना-अपना भाग्य होता है, सबकी अपनी-अपनी नियति होती है। रमण महर्षि अगर अपने माता-पिता के बारे में सोचते तो कभी गृह त्याग नहीं कर पाते। स्वामी शिवानंद जी अगर अपने माता-पिता का सोचते तो कभी घर त्याग नहीं कर सकते थे। सभी संत-महात्माओं का जीवन देख लो। किसने अपने घर में रहकर संत का जीवन बिताया है? स्वामी सत्यानंद जी घर में रहते तो संत नहीं हो पाते, हम घर में रहते तो नहीं हो पाते। कहीं-न-कहीं सांसारिक जीवन से संबंध-विच्छेद का होना आवश्यक है।

माता-पिता तुम्हारे जन्मदाता अवश्य हैं, लेकिन भाग्य-निर्माता नहीं। भाग्य-निर्माता है ईश्वर और तुम्हें उसके अनुसार चलना है। जो अपने भाग्य के विपरीत जाने का प्रयास करते हैं वे जीवन में हमेशा दु:ख, अशांति और असफलता प्राप्त करते हैं। आजमाकर देख लो। लेकिन अगर भाग्य के साथ जाओगे तो फिर दु:ख और तकलीफ नहीं होती, बल्कि सब चीजें सरल हो जाती हैं।

अध्यात्म में अपनी इच्छा काम नहीं करती है। लोग अपनी इच्छा से आते हैं और इच्छा से चले भी जाते हैं। अध्यात्म की पूर्णता की ओर ले जाने के लिए संस्कार काम करता है, इच्छा नहीं। इसलिए तुम अपने जीवन में अच्छे संस्कारों को लाने का प्रयास करो ताकि तुम अपने लिए एक अच्छे भाग्य का निर्माण कर सको। सीधी-सी बात इतनी ही है।

–9 अगस्त 2015, गंगा दर्शन

नव पल्लव

छोटे बच्चे, छोटे अंकुर
उन्हें सुरक्षा मिलनी चाहिये
और विकास के साधन।
आश्रम जीवन बच्चों के लिये जरूरी है।
अनुशासन की शिक्षा, नियमित जीवन,
स्वतंत्र वातावरण, वैज्ञानिक दिनचर्या
ये सभी उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होंगे।

–स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट

धारणा दर्शन

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

पृष्ठ 460, ISBN: 978-81-86336-21-2

प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती द्वारा सिखायी गयी यौगिक, तान्त्रिक और औपनिषदिक धारणा की अनेक साधनायें दी जा रही हैं। ये साधनायें प्रशिक्षण के उच्चतर स्तर की हैं, इन्हें यहाँ देने का कारण है कि अनेक उच्च एवं गम्भीर साधकों ने ध्यान के गहन आयामों में मार्गदर्शन की आवश्यकता प्रकट की है। इस संस्करण में प्रमुख विषय हैं– धारणा का महत्त्व, अभ्यास की विधियों का विस्तृत कक्षा-शिक्षण-अनुदेश तथा लय धारणा की विधियाँ।

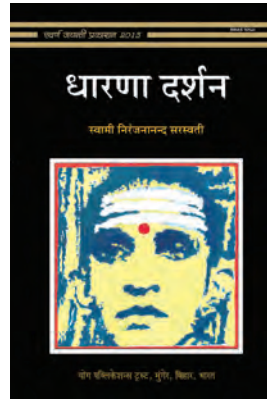

उपलब्ध

पुस्तकों की मूल्य सूची एवं क्रयादेश प्रपत्र प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें–
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, गरुड विष्णु, पी.ओ. गंगा दर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201
दूरभाष : 91-6344-222430, 6344-228603 फैक्स : 91-6344-220169

जवाब के लिए अपना पता लिखा, डाकटिकट लगा लिफाफा भेजें, अन्यथा आपके आवेदन पर विचार नहीं किया जाएगा।

वेबसाइट

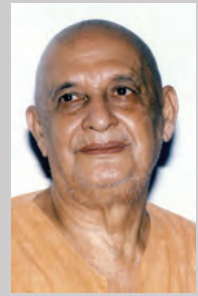

www.biharyoga.net
यह बिहार योग पद्धति की मुख्य वेबसाइट है जिसमें सत्यानन्द योग, बिहार योग विद्यालय, बिहार योग भारती तथा योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट सम्बन्धी जानकारियाँ उपलब्ध हैं।

www.yogamag.net
योगा पत्रिका की वेबसाइट पर पिछले तीस वर्षों की प्रतियों का संग्रह है। इस निरंतर वर्धमान संग्रह में खोजने की सुविधा भी उपलब्ध है।

आवाहन वेबसाइट
www.biharyoga.net/sannyasa-peeth/avahan/ पर संन्यास पीठ की द्वैमासिक पत्रिका, *सत्य का आवाहन* उपलब्ध है, जिसमें श्री स्वामी शिवानन्द, श्री स्वामी सत्यानन्द एवं स्वामी निरंजनानन्द की शिक्षाओं तथा संन्यास पीठ की गतिविधियों की जानकारी है।

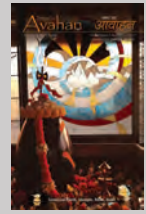

- Registered with the Department of Post, India
  Under No. HR/FBD/298/16-18
  Office of posting: BPC Faridabad
  Date of posting: 1st-7th of every month
- Registered with the Registrar of Newspapers, India
  Under No. BIHHIN/2002/6306

issn 0972-5725

योगपीठ के कार्यक्रम एवं प्रशिक्षण 2016

अक्टूबर 3-30	प्रगतिशील योगविद्या प्रशिक्षण (अँग्रेजी)
अक्टूबर 3- जनवरी 29	चातुर्मासिक योग अध्ययन सत्र (अंग्रेजी)
अक्टूबर 22-28	राज योग-आसन-प्राणायाम का विशेष सत्र (हिन्दी/अंग्रेजी)
नवम्बर 5-11	क्रिया योग-प्रारम्भिक (हिन्दी/अंग्रेजी)
नवम्बर 7- फरवरी 7 2017	यौगिक जीवनशैली का अनुभव (अंग्रेजी)
दिसम्बर 19-23	योग चक्र शृंखला (हिन्दी/अंग्रेजी)
दिसम्बर 25	स्वामी सत्यानन्द जन्मदिवस
प्रत्येक शनिवार	महामृत्युंजय हवन
प्रत्येक एकादशी	भगवद् गीता पाठ
प्रत्येक पूर्णिमा	सुन्दरकाण्ड पाठ
प्रत्येक 5 एवं 6 तारीख	श्री स्वामी सत्यानन्द जी की महासमाधि का स्मरणोत्सव
प्रत्येक 12 तारीख	अखण्ड रामचरितमानस पाठ

आश्रम में मोबाइल फोन लाना वर्जित है। अपना मोबाइल फोन कदापि अपने साथ न लाएँ।

उपर्युक्त सत्रों/ कार्यक्रमों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए सम्पर्क करें-
बिहार योग विद्यालय, गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर, बिहार 811201
फोन : 06344-222430, 06344-228603 फैक्स : 06344-220169
वेबसाइट : www.biharyoga.net
✉ अन्य किसी जानकारी हेतु अपना पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।